भा.क.पा. (माओवादी) की एकता कांग्रेस

[एक आलोचना]

भा.क.पा. (माओवादी) की कांग्रेस, 9वीं कांग्रेस के बतौर 2007 के जनवरी–फरवरी महीने में सम्पन्न हुई। इसे एकता कांग्रेस का नाम इसलिए दिया गया, क्योंकि सितम्बर 2004 में भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) और भारत का माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र (एम.सी.सी.आई.) के विलय से भा.क.पा. (माओवादी) का गठन किया गया था, यह इस गठन के बाद होने वाली कांग्रेस थी। चूंकि इसके 37 वर्ष पहले भा.क.पा. (माले) की कांग्रेस को 8वीं कांग्रेस कहा गया था। इसलिए उसी की निरंतरता में इसे 9वीं कांग्रेस कहा गया। लेकिन इसके पहले 2001 में भा. क.पा. (माले–पीपुल्सवार) अपनी 9वीं कांग्रेस कर चुकी थी, जो भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) और भा.क.पा. (माले–पार्टी यूनिटी) की 1998 में एकता के बाद सम्पन्न हुई थी। इस तरह, भा.क.पा. (माले) की निरंतरता को दिखाने के लिए दो बार 9वीं कांग्रेस आयोजित करने की हास्यास्पद कार्यवाही सम्पन्न की गयी। इस बार, पार्टी का नाम बदल कर भा.क.पा. (माओवादी) कर दिया गया।

एम.सी.सी. का गठन **20** अक्टूबर **1969** को हुआ था। उस समय इसने का.चारू मजूमदार की व्यक्तिगत सफाये की लाइन का विरोध किया था लेकिन कालांतर में वह भी इस लाइन पर चल पड़ी। 2003 में कुछ संगठनों से एकता होने के बाद इसने अपना नाम एम. सी.सी.आई. कर लिया।

भा.क.पा. (माओवादी) का गठन और इसकी एकता कांग्रेस– 9वीं कांग्रेस, भारत में नव–जनवादी क्रांति की मंजिल तथा दीर्घकालीन लोकयुद्व के रास्ते के आधार पर सशस्त्र संघर्ष चलाने वाले संगठन की कांग्रेस है। यह कांग्रेस मूलतया गलत कार्यक्रम और गलत रणनीतिक लाइन की कांग्रेस है। इसमें अगर कुछ सकारात्मक है तो बस इतना कि इससे इस संगठन की ताकत का विस्तार हुआ है जिससे यह अपनी लाइन को और ज्यादा बड़े पैमाने पर लागू कर सकती है। इससे इसकी विसंगतियां और ज्यादा उजागर होंगी, तब शायद इसके नेतृत्व को अपनी बुनियादी तौर पर गलत लाइन को समझने में मदद मिल सके।

लेकिन इसी सकारात्मक पहलू का बहुत ही नकारात्मक पक्ष भी है। यह कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शक्तियों का गलत उपयोग भी है। इस गलत उपयोग के कारण देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन को गैर–जरूरी कुर्बानियां देनी पड़ रही हैं। लेकिन यह ऐसा नुकसान है जिससे तभी बचा जा सकता है जब यह संगठन अपनी बुनियादी तौर पर गलत कार्यदिशा को छोड़े और एक सही कार्यक्रम के आधार पर अपनी लाइन तय करे।

यह ऐसा कष्टसाध्य कार्यभार है, जिससे ये संगठन बचते रहे हैं। लम्बे समय तक गलत लाइन को लागू करते–करते उसके बंदी बन चुके हैं। जड़सूत्रवाद इस कदर व्याप्त है कि उससे निकलने में यह कांग्रेस असमर्थ रही है। इनकी राजनीतिक–सांगठनिक रिपोर्ट (विलय के बाद की) की रूपरेखा में वामपंथी दुस्साहसवाद का गुणगान है। भयानक व व्यापक नुकसान के बावजूद ये कुछ भी सीखने को तैयार नहीं हैं।

हमने भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) की नवीं कांग्रेस पर अपनी आलोचना प्रस्तुत की थी। उसमें हमने उसकी विसंगतियों की आलोचना करते हुए यह उम्मीद जतायी थी कि उसने अपनी सैद्वान्तिक अवस्थितियों में जो सकारात्मक परिवर्तन किये हैं उसे इनको अपनी तार्किक परिणति तक पहुंचाना चाहिए।

लेकिन यह एकता कांग्रेस उससे और पीछे चली गयी। इसने अपने अर्द्व औपनिवेशिक–अर्द्व सामंती विश्लेषण को चाक–चौबंद करने के लिए ऐसे तथ्यों को ही गायब कर दिया जो इनकी लाइन की विसंगतियों को उजागर करते थे। उदाहरण के लिए भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) ने अपनी 9वीं कांग्रेस में भारत में दलाल नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग और व्यापक जनता के बीच अंतर्विरोध को एक बुनियादी अंतर्विरोध के बतौर सूत्रित किया था। इसी प्रकार, देश के कुछ हिस्सों में कृषि में पूंजीवादी विकास को स्वीकार किया था। इसके लिए कुछ तथ्य पेश किये थे। ये तथ्य इसके अर्द्व–औपनिवेशिक और अर्द्व–सामंती समाज के सूत्रीकरण से विसंगति रखते थे। भा.क.पा. (माओवादी) की 9वीं कांग्रेस ने इन तथ्यों और बुनियादी अंतर्विरोध के उपरोक्त सूत्रीकरण को ही गायब कर दिया। इस एकता कांग्रेस के दस्तावेज तथ्यों से निष्कर्षों पर पहुंचने के बजाय अपने पूर्व निर्धारित निष्कर्षों में इधर–उधर से तथ्यों का समावेश करते दिखाई देते हैं।

इस एकता कांग्रेस के दस्तावेज दावा करते हैं कि वे ठोस स्थितियों के ठोस विश्लेषण पर आधारित हैं और कि पिछले साढ़े तीन दशकों से भी ज्यादा अपने व कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के अनुभवों के संश्लेषण पर आधारित हैं, लेकिन इनमें यही नदारद है। मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओवाद की दुहाई देने और उसे अपना पथ प्रदर्शक सिद्वान्त घोषित करने के बावजूद इसी दृष्टिकोण व विश्लेषण पद्वति का अभाव है।

इस कांग्रेस में पांच मूल दस्तावेज पारित किये गये। इन दस्तावेजों के हिस्से के बतौर पूर्ववर्ती संगठनों के बीच असहमति के बिन्दुओं पर भी चर्चा हुई और उन पर अवस्थितियां पारित की गयीं। इसके अतिरिक्त, दोनों पूर्ववर्ती संगठनों की राजनीतिक–सांगठनिक समीक्षायें भी बहस में आयी और उन्हें पारित किया गया। लेकिन वे उपलब्ध नहीं है। इस एकीकृत पार्टी ने पंजाब की कृषि में पूंजीवादी विकास का अध्ययन करने के लिए एक टीम का गठन किया था। टीम दो भिन्न–भिन्न नतीजों पर विभाजित थी। इस पर भी कांग्रेस में बहस हुई और एक पक्ष के निष्कर्ष पारित किये गये। इस कांग्रेस के मूल दस्तावेज हैं :

1–मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओवाद के रोशन लाल झण्डे को ऊंचा उठायें!
2–पार्टी कार्यक्रम
3–भारतीय क्रांति की रणनीति और कार्यनीति
4–राजनीतिक प्रस्ताव (अंतर्राष्ट्रीय और घरेलू परिस्थिति)
5–पार्टी संविधान

इस संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणी के बाद हम इनके दस्तावेजों में प्रस्तावित मूल बातों पर चर्चा करेंगे।

। साम्राज्यवाद के मौजूदा चरण के बारे में गलत अवस्थिति

इसके दस्तावेजों में एक केन्द्रीय निष्कर्ष है। आज की दुनिया साम्राज्यवाद के नव–उपनिवेशवाद के चरण की दुनिया है। यह एशिया, लातिन अमरीका और अफ्रीका के अधिकांश देशों को या तो नव–उपनिवेश बनाये हुए है या नव–औपनिवेशिक रूप के शोषण,

नियंत्रण और अप्रत्यक्ष शासन के अधीन अर्द्ध–उपनिवेश बनाये हुए हैं। इन देशों में दलाल नौकरशाह पूंजीपति वर्ग और सामंत वर्ग सत्ता में हैं जो साम्राज्यवाद के ताबेदार हैं। इन सभी देशों में नव–जनवादी क्रांति की मंजिल है।

इसी केन्द्रीय निष्कर्ष के लिए चुनिंदा तथ्यों को लिया गया है। केन्द्रीय निष्कर्ष में विपरीत प्रभाव डालने वाले तथ्यों को जानबूझकर छोड़ दिया है। फिर भी, जिन तथ्यों का हवाला दिया गया है, वही इस केन्द्रीय निष्कर्ष का खण्डन करने का काम करते हैं। क्योंकि सच्चाई बहुत अड़ियल होती है, वह दबाने की लाख कोशिशों के बावजूद उजागर हो ही जाती है। आइये, देखें इनके दस्तावेज क्या कहते हैं :

''दूसरे विश्व युद्व के बाद दशक भर तक चले क्रांतिकारी संकट के फलस्वरूप उपनिवेशों तथा अर्द्व–उपनिवेशों में उठे अभूतपूर्व जन–ज्वार के कारण साम्राज्यवाद को हाबड़तोड़ में पीछे हटना पड़ा था। इसी इसी इसी इसी के साथ उसने उत्पीड़ित राष्ट्रों के प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन तथा लूटखसोट के स्थान पर अप्रत्यक्ष के साथ उसने उत्पीड़ित राष्ट्रों के प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन तथा लूटखसोट के स्थान पर अप्रत्यक्ष के साथ उसने उत्पीड़ित राष्ट्रों के प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन तथा लूटखसोट के स्थान पर अप्रत्यक्ष के साथ उसने उत्पीड़ित राष्ट्रों के प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन तथा लूटखसोट के स्थान पर अप्रत्यक्ष शासन, लू शासन, लूशासन, लू शासन, लूट–खसोट, शोषण तथा नियंत्रण की नव–औपनिवेशिक नीतियों व तौर–तरीकों को अपनाना ट–खसोट, शोषण तथा नियंत्रण की नव–औपनिवेशिक नीतियों व तौर–तरीकों को अपनाना ट–खसोट, शोषण तथा नियंत्रण की नव–औपनिवेशिक नीतियों व तौर–तरीकों को अपनाना ट–खसोट, शोषण तथा नियंत्रण की नव–औपनिवेशिक नीतियों व तौर–तरीकों को अपनाना शुरू कर दिया। शुरू कर दिया।शुरू कर दिया। शुरू कर दिया। साम्राज्यवाद ने अपने दुमछल्लों के रूप में इन उत्पीड़ित देशों के दलाल शासक वर्गों को माध्यम बनाते हुए उत्पीड़ित जनता की विशाल बहुसंख्या पर अपने संकट का बोझ लादते हुए तमाम राष्ट्रों का शोषण तीव्र कर दिया।'' (राजनीतिक प्रस्ताव, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति, पृष्ठ–24.25, जोर हमारा)

आगे,

''दूसरे विश्वयुद्व के बाद साम्राज्यवादी शक्तियों को दुनिया भर में अभूतपूर्व पैमाने पर साम्राज्यवाद–विरोधी संघर्षों का सामना करना पड़ा। तब उन्होंने प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद के बदले नव–उपनिवेशवाद की इससे ज्यादा परिष्कृत, ज्यादा कपटी और ''ज्यादा अनिष्टकारी'' नीतियों को लागू किया है। ...'' (राजनीतिक प्रस्ताव, घरेलू परिस्थिति, प$_{ृ}$–54, जोर हमारा)

उपर्युक्त बातें माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत संशोधनवादियों के विरुद्व संघर्ष के दौरान 'महान बहस' में कही थीं। यह उस समय की परिस्थिति का आकलन था। उस समय एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका में कई देशों ने नई राजनीतिक स्वाधीनता हासिल कर ली थी, अनेक देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष चल रहे थे। जिन देशों ने राजनीतिक स्वाधीनता हासिल कर ली थी, उनको अमरीकी साम्राज्यवादी फिर से अधीन करने की कोशिश कर रहे थे और कई देशों में कठपुतली सत्तायें स्थापित कर चुके थे। ख्रुश्चोवी संशोधनवादी इन नये स्वाधीनता प्राप्त देशों को आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने की सलाह दे रहे थे और साम्राज्यवाद–विरोधी राजनीतिक संघर्षों से उन्हें हटाने की कोशिश कर रहे थे। अपने समग्र संशोधनवादी विश्व–दृष्टिकोण के कारण वे अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित किये जा रहे नव–उपनिवेशवाद के पैरोकार बन गये थे।

वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति वह नहीं है जो 'महान बहस' के समय में, यानी 1960 के दशक में थी। वह बदल चुकी है। साम्राज्यवाद के युग के भीतर उपनिवेशवाद के चरण का खात्मा हो चुका है। नव–उपनिवेशवाद के चरण का आमतौर पर खात्मा हो गया है। वर्तमान में, दुनिया के क्षेत्रीय बंटवारे के लिए विभिन्न साम्राज्यवादी ताकतों के बीच संघर्ष नहीं रह गया है। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के देशों में प्रभाव क्षेत्रों के लिए, बाजारों के लिए विभिन्न साम्राज्यवादी ताकतों के बीच संघर्ष है। लेकिन किसी एक साम्राज्यवादी द्वारा किसी देश पर पूर्ण नियंत्रण व अप्रत्यक्ष शासन अब आमतौर पर सम्भव नहीं रह गया है। लेकिन यह साम्राज्यवादियों के चरित्र बदलने के कारण नहीं हुआ है। यह दुनिया की मजदूर– मेहनतकश अवाम तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की बदौलत हुआ है। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों और नई राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त सत्ताओं को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में समाजवादी खेमे की मौजूदगी की और बाद में दो महाशक्तियों के बीच टकरावों की भूमिका रही है।

लेकिन इस कांग्रेस के ये दस्तावेज इन प्रक्रियाओं को ध्यान में नहीं रखते। वे 'महान बहस' के दौर की विश्व परिस्थिति के आकलन पर ही टिके हुए हैं और उससे उसी तरह चिपके हुए हैं जैसे अपने मरे हुए बच्चे को बंदरिया चिपकाये रहती है। वे उक्त आकलन को सिद्वान्त का दर्जा दे देते हैं।

इसीलिए ये दस्तावेज बांदुंग सम्मेलन, गुट–निरपेक्ष आंदोलन, ळ.77ए ळ.15 और अन्य ऐसे क्षेत्रीय संगठनों आदि के बारे में चुप हैं। चूंकि ये संगठन ज्यादातर मामलों में एक हद तक साम्राज्यवाद के विरोध में अवस्थितियां अपनाते थे और इनमें शामिल होने वाले देश अधिकांशतः वही रहे हैं जिन्हें ये दस्तावेज अर्द्व–औपनिवेशिक अर्द्व–सामंती कहते हैं तथा कहते हैं कि इनमें दलाल–नौकरशाह पूंजीपति और सामंती वर्ग सत्तासीन है। अगर वे इन तथ्यों का जिक्र करते तो इससे उनकी नव–औपनिवेशिक नीतियों के अंतर्गत अप्रत्यक्ष शासन, लूट–खसोट, शोषण तथा नियंत्रण के सूत्रीकरण पर सवाल उठने लगते। इसलिए 'मूंदहु आंख कतहु कछु नाहीं' का दृष्टिकोण अपनाया गया है।

इन दस्तावेजों की दिक्कत यह है कि इनको कुछ न कुछ तथ्य तो देने ही हैं, नहीं तो इनके सूत्रीकरण विश्वसनीय नहीं बन सकते। इन तथ्यों को देखें :

''... इस्लामी दुनिया की जनता में बढ़ती अमरीका–विरोधी भावनाओं और रोष के कारण इन देशों की सरकारें प्रकट रूप से अमरीका–विरोधी रुख अपनाने को बाध्य हुई हैं। अमरीका इराक पर अपने पहले हमले से बिल्कुल उलट स्थिति का सामना करते हुए मार्च, 2003 के अपने दूसरे हमले के दौरान अकेले बरतानिया के पूर्ण समर्थन को छोड़ दिया जाय, तो पूरी तरह अलग–थलग पड़ गया था। एक कुवैत को छोड़कर समूची अरब दुनिया ने इराक पर हुए इस दूसरे हमले का विरोध किया। सउदी अरब, मिश्र तथा तुर्की की सबसे ताबेदार सरकारों ने भी अपनी जनता के बढ़ते अमरीका–विरोधी प्रदर्शनों से घबराकर अमरीका की नीति का विरोध किया और इराक पर अमरीका के आक्रमण के लिए अपनी सरहदों के इस्तेमाल की इजाजत का विरोध किया और इराक पर अमरीका के आक्रमण के लिए अपनी सरहदों के इस्तेमाल की इजाजत नहीं दी। न केवल यूरोप, वरन् अफ्रीकी राष्ट्राध्यक्षों ने भी जब अमरीकी प्रतिबंधों की खुले आम अवहेलना की, तो क्यूबा, ईरान तथा लीबिया को अलग–थलग करने के अमरीका के प्रयास नाकाम रहे।'' (राजनीतिक प्रस्ताव, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति, पृ.–44, जोर हमारा)

और भी,

'' लातिन अमरीका में अमरीका परस्त सरकारों द्वारा लागू की गयी नव उदारवादी नीतियों तथा आर्थिक संकट के परिणामों के विरुद्व वहां की मेहनतकश अवाम और मध्यम वर्गों का आक्रोश स्वतः स्फूर्त रूप से फूट पड़ता दिखायी देता है। अमरीका द्वारा वेनेजुएला में चावेज को हटाने के अनेक प्रयासों का व्यापक अमरीका द्वारा वेनेजुएला में चावेज को हटाने के अनेक प्रयासों का व्यापक अमरीका द्वारा वेनेजुएला में चावेज को हटाने के अनेक प्रयासों का व्यापक अमरीका द्वारा वेनेजुएला में चावेज को हटाने के अनेक प्रयासों का व्यापक प्रतिरोध समूचे महाद्वीप में प्रतिरोध समूचे महाद्वीप मेंप्रतिरोध समूचे महाद्वीप में प्रतिरोध समूचे महाद्वीप में बढ़ती अमरीका–विरोधी तथा जनवादी भावनाओं का अहम सूचक है। इससे साम्राज्यवाद–विरोधी राजनीति के लिए वातावरण अधिक अनुकूल हो चला है।'' (वही, पृ–30, जोर हमारा)

अब इन तथ्यों की व्याख्या इन दस्तावेजों में एक ही है, कि वे जनता के अमरीका–विरोधी प्रदर्शनों से घबराकर अमरीका की नीति का विरोध कर रहे हैं। वरना वे ताबेदार हैं। लेकिन यहीं सवाल खड़ा होता है कि इन दस्तावेज के प्रस्तोताओं के हिसाब से इराक के भी

ताबेदार थे। फिर ताबेदार को क्यों हटाना पड़ा? ये दस्तावेज इस बात की व्याख्या नहीं करते कि अफ्रीकी राष्ट्राध्यक्षों ने भी अमरीकी प्रतिबंधों की खुलेआम अवहेलना क्यों की? क्यों क्यूबा, ईरान तथा लीबिया को अलग–थलग करने के अमरीकी प्रयास नाकाम रहे?

ये इन प्रश्नों का सही जवाब इसलिए नहीं दे पाते क्योंकि इनके अनुसार ये सभी देश नव–औपनिवेशिक नीतियों के अंतर्गत साम्राज्यवाद के अप्रत्यक्ष शासन, शोषण और नियंत्रण वाले देश हैं। यह वास्तविकता नहीं है। ये सभी देश राजनीतिक तौर पर आजाद हैं और इन सभी देशों में कमोबेश स्वतंत्र पूंजीपति वर्ग सत्ता में हैं। इसलिए इन देशों के शासक अपने लाभ को मूलतया ध्यान में रखकर अपनी नीतियां– आर्थिक, राजनीतिक, कूटनीतिक– तय करते हैं। यही कारण है कि एक समय पर किसी खास साम्राज्यवादी शक्ति का समर्थन करने वाला किसी देश का शासक वर्ग दूसरे समय पर विरोध करता नजर आता है। यह वह मूलतया अपने वर्ग–स्वार्थों के आधार पर करता है।

लेकिन भा.क.पा. (माओवादी) को 'राजनीतिक तौर पर आजाद और आर्थिक तौर पर निर्भर' की धारणा संशोधनवादी लगती है। वह इस सूत्रीकरण को पूर्णतया गलत मानती है। भा.क.पा. (माओवादी) को इस सूत्रीकरण को संशोधनवादी कहने के लिए लेनिन को भी संशोधनवादी कहना पड़ेगा। कम से कम, भा.क.पा.(माओवादी) का नेतृत्व इसके लिए तैयार नहीं होगा। साम्राज्यवाद के युग में आर्थिक तौर पर बिना वियोजित हुए राजनीतिक तौर पर कोई देश वियोजित (विलग) हो सकता है, इसके लिए देखें लेनिन की रचना ''मार्क्सवाद का विकृत रूप, 'साम्राज्यवादी अर्थवाद''।

चूंकि द्वितीय विश्वयुद्वोत्तर काल की विशेष तौर पर 1960 के दशक के बाद की परिस्थितियों में आने वाले बदलावों को देखने में और उससे मार्क्सवादी आधार पर निष्कर्ष निकालने में भा.क.पा. (माओवादी) असफल रही है, इसीलिए वह आज की दुनिया के प्रधान अंतर्विरोध और बुनियादी अंतर्विरोधों को समझने में भी गलती करती है। वह यह देखने में असफल रही है कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत रहते हुए एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के अधिकांश देशों में भी पूंजीवाद का विकास हो गया है और इन देशों में साम्राज्यवाद के खात्मे के लिए संघर्ष में पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा नहीं आयेगा। इन देशों का पूंजीपति वर्ग अपने–अपने देशों में साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार हो गया है। इन देशों में वह साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब है। इन देशों में भी पूंजी और श्रम के अंतर्विरोध प्रधान अंतर्विरोध बन गये हैं। ऐसी स्थिति में, लेनिन के समय का यह निष्कर्ष कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति के अभिन्न अंग बन चुके हैं, अब और आगे बढ़ गया है। मौजूदा समय में, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की धारा विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति की धारा में समाहित हो गयी है। इसका कारण यही है कि आज जो सामाजिक शक्तियां समाजवाद के लिए संघर्ष कर रही हैं, वही शक्तियां साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए राष्ट्रीय संघर्ष कर रही हैं। अतः आज दुनिया के पैमाने पर प्रधान अंतर्विरोध पूंजी और श्रम के बीच है। इसके साथ ही एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के देशों में ही पहले क्रांतिकारी संकट फूट पड़ने की सम्भावना है।

इसलिए भा.क.पा. (माओवादी) का आज की दुनिया के प्रधान अंतर्विरोध साम्राज्यवाद और उत्पीड़ित राष्ट्रों व जनता के बीच का अंतख्वरोध के बतौर निर्धारण करना गलत है।

वैसे जब ये वैश्विक पूंजीवाद की बात करते हैं तो कहीं भी ये इस बात की चर्चा नहीं करते कि साम्राज्यवाद अपनी कौन सी योजनाओं और नीतियों के जरिये एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका में प्राक्–पूंजीवादी संरचनाओं को बरकरार रखे हुए है। मसलन,

> ''उत्पादन तथा पूंजी संचय का किस हद तक वैश्वीकरण हुआ है, यह कम्पनियों के बढ़ते आंतरिक व्यापार, पार राष्ट्रीय निगमों से सम्बद्व विदेशी शाखाओं की बढ़ती बिक्री आदि से पता चलता है। ''अमरीकी, यूरोपीय तथा जापानी पार राष्ट्रीय निगम तथा बहुराष्ट्रीय निगम विभिन्न देशों और क्षेत्रों में निवेश तथा व्यापार पर लगे प्रतिबंधों को पूरी तरह हटवाना चाहते हैं। इन विश्वव्यापी निगमों की लाभदायकता को बढ़ाने और एशिया, अफ्रीका, लातिन अमरीका के सस्ते मजदूरी वाले क्षेत्रों में अपने प्रवेश को आसान बनाने के लिए विश्व बैंक और उसकी सहयोगी संस्थाओं ने वहां के आधारभूत ढाचों के विकास, यानी सड़क, रेल, दूरसंचार, बिजली उत्पादन आदि के विकास के लिए बड़े–बड़े कार्यक्रम शुरू कर दिये हैं। इन देशों की सरकारी नीतियों में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी की नई जरूरतों के अनुरूप परिवर्तन किये जा रहे हैं।
>
> ''विश्वव्यापी संचय की आवश्यकताओं के नक्शेकदम पर हर प्रकार की पूंजीगत मुद्रा और उत्पादक पूंजी तथा माल पूंजी की सर्वत्र उन्मुक्त आवाजाही सुनिश्चित करने के लिए विश्व व्यापार संगठन के रूप में नियामक तंत्र स्थापित किये जा रहे हैं। ...
>
> '' पिछड़े, उत्पीड़ित देशों के उद्योग को विश्वव्यापी कारखानों के तंत्र का पुर्जा मात्र बना देने वाले ''उत्पादन के वैश्वीकरण'' के कारण इन देशों की अर्थव्यवस्था में अभूतपूर्व संकट पैदा हुआ है। विश्व–अर्थव्यवस्था का संकट जैसे–जैसे गहन होता जायेगा, वैसे–वैसे इन अर्थव्यवस्थाओं की हालत बद से बदतर होती जायेगी।'' (राजनीतिक प्रस्ताव, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति, पृ.18–19)

और आगे,

> '' अतिरिक्त क्षमता की समस्या प्रायः सभी पूंजीवादी देशों में और एशिया, अफ्रीका तथा लातिन अमरीका के कुछ देशों, मसलन चीन, भारत, दक्षिण कोरिया, ब्राजील, मैक्सिको इत्यादि में भी फैल चुकी है। इसीलिए तीखी होड़ के कारण वस्तुओं के दाम गिर रहे हैं, जिससे अपस्फीति की स्थितियां भी पैदा हो रही हैं। अतिरिक्त क्षमता की समस्या कम्प्यूटर चिप्स, इस्पात, कार टेक्सटाइल तथा रसायन उद्योग के क्षेत्रों में खासतौर पर गहन हो गयी है। औद्योगिक क्षमता और उसके उपयोग के बीच फर्क, अर्थात विश्व उत्पादन की यह विसंगति आज 1930 के दशक के बाद के समूचे दौर के अपने उच्चतम स्तर के करीब पहुंच रही है।'' (वही, पृ– 20)

वैश्विक पूंजीवाद और उसकी विसंगतियों की चर्चा करते हुए इनका दस्तावेज कुछ सही तथ्य पेश करता है। लेकिन इससे वह तार्किक निष्कर्ष नहीं निकलता। लेनिन ने बहुत पहले कहा था कि साम्राज्यवादी पूंजी के निर्यात से उपनिवेशों और अर्द्व–उपनिवेशों में पूंजीवादी विकास तेजी से हो रहा है। पहले के उपनिवेशों व अर्द्व–उपनिवेशों में राजनीतिक स्वाधीनता मिलने के बाद पूंजीवादी विकास में इतनी तेजी आयी है कि तकरीबन सभी देशों में पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध मुख्य हो गये हैं। आज साम्राज्यवादी पूंजी सभी देशों में मार कर रही है और एशिया, अफ्रीका व लातिन अमरीका में पूंजी के माध्यम से अपना वर्चस्व, और प्रभुत्व स्थापित कर रही है। इस तरह, आज की दुनिया में न तो औपनिवेशिक सम्बन्ध रह गये हैं और न ही नव–औपनिवेशिक सम्बन्ध आमतौर पर रह गये हैं। आज की दुनिया में साम्राज्यवाद एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका में आर्थिक नव–औपनिवेशिक सम्बंधों के आधार पर अपना वर्चस्व स्थापित किये हुए है। भा.क.पा. (माओवादी) के द्वारा पेश किये गये तथ्य इसी ओर संकेत देते हैं। वह इस बात पर ध्यान नहीं देती कि आज समूची दुनिया में कृषि मुख्य पेशा नहीं रह गया है। न सिर्फ साम्राज्यवादी देशों में बल्कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीकी देशों में भी राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा गैर कृषि क्षेत्र से आता है। दुनिया की आधी आबादी शहरों में रहती है। इन सब विकासक्रमों को भा.क.पा. (माओवादी) देखने से इंकार करती है। वह जितनी बातों को संज्ञान में लेती है उन्हें तार्किक परिणति तक नहीं पहुंचाती। भा.क.पा. (माओवादी) का यह नजरिया मार्क्सवादी नहीं है। यह मार्क्सवाद को जड़सूत्रवाद में बदल देना है।

II भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में

ऊपर हम देख चुके हैं कि अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के आकलन में ये दस्तावेज जड़सूत्रवादी दृष्टिकोण के शिकार हैं। इनका यह दृष्टिकोण और ज्यादा मुखर होकर भारतीय समाज के विश्लेषण में व्यक्त हुआ है। भा.क.पा. (माओवादी) की दृष्टि में भारत का बड़ा पूंजीपति

वर्ग दलाल के रूप में पैदा हुआ, दलाल के रूप में विकसित किया गया और आज भी दलाल है। यह कि 1947 में राजनीतिक स्वाधीनता झूठी थी। यहां पर किसी किस्म का पूंजीवादी जनवाद नहीं है।

हम 'लाल सलाम' के विभिन्न अंकों में इन जड़सूत्रवादी व गलत अवस्थितियों की अलग–अलग कोणों से इतनी बार चर्चा और खंडन कर चुके है कि कई बार लगता है कि क्या वास्तव में कोई कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इतना जड़सूत्रवादी हो सकता है? लेकिन जब हम इस कांग्रेस के दस्तावेजों का अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में जड़सूत्रवाद बहुत गहराई से जड़ जमाये हुए है। आइये, इस जड़सूत्रवाद की एक बानगी देखें। इनका कार्यक्रम द्वितीय विश्व युद्व के बाद चीनी क्रांति सम्पन्न होने, समाजवादी खेमे के आ जाने और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ज्वार से साम्राज्यवाद के कमजोर हो जाने को संज्ञान में लेने के बाद कहता है :

'' 8. दूसरे विश्व–युद्व के दौरान और इसके नतीजे के तौर पर तुरन्त बाद में भारतीय उप महाद्वीप में भी अभूतपूर्व क्रांतिकारी परिस्थिति आ खड़ी हुई। 'आजाद हिन्द फौज' के बन्दियों की रिहाई के सशक्त आंदोलन, देश भर में विद्यार्थियों के जबरदस्त साम्राज्यवाद विरोधी प्रदर्शनों, तेभागा तथा बकाश्त आंदोलन, रियासतों में उठ खड़े हुए सशक्त सामन्तवाद–विरोधी आंदोलन, डाक–तार कर्मचारियों की हड़ताल, थल सेना तथा वायु सेना में उभरते असंतोष के साथ ही बम्बई में शाही भारतीय नौसेना के सैनिकों की गौरवशाली सशस्त्र बगावत, बिहार का पुलिस विद्रोह, मजदूर वर्ग के बिरादराना संघर्ष तथा तेलंगाना के ऐतिहासिक सशस्त्र किसान संघर्ष की शुरुआत आदि ने भारत में अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शासन को पतन के कगार पर ला खड़ा किया।

'' ऐसी परिस्थिति में अपने शोषण, नियंत्रण तथा अप्रत्यक्ष शासन को बनाये रखने और भारतीय जनता के क्रांतिकारी उभार को ध्वस्त करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने वफादार दलालों– कांग्रेस व मुस्लिम लीग के नेताओं का इस्तेमाल किया। साजिशों व षड़यंत्रों के बीच और इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों तथा जन संहारों के दौर से देश का धर्म के आधार पर बंटवारा हुआ। अपने विश्वस्त एजेण्टों– दलाल नौकरशाह पूंजीपति वर्ग तथा बड़े जमींदार वर्ग की प्रतिनिधि कांग्रेस की नेताशाही को शासन सौंपकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी पर्दे के पीछे चले गये। 1947 में जिस 'आजादी' की घोषणा की गयी असल में वह झूठी आजादी थी। वस्तुतः अप्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन, शोषण व नियंत्रण के नव–औपनिवेशिक रूप के मातहत एक अर्द्व– औपनिवेशिक, अर्द्व–सामंती व्यवस्था ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की प्रत्यक्ष औपनिवेशिक और अर्द्व–सामंती व्यवस्था की जगह ले ली। (पार्टी कार्यक्रम, पृष्ठ 6–7)

'' 9. औपचारिक आजादी, जो अपनी अंतर्वस्तु में नकली आजादी है, के इन वर्षों में दलाल नौकरशाह बड़े पूंजीपतियों तथा बड़े जमींदारों का यह शासक वर्ग पूरी वफादारी के साथ साम्राज्यवादियों की खिदमत करता रहा है। इस बदली हुई परिस्थिति में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के अलावा अमरीकी तथा अन्य साम्राज्यवादी लुटेरे और स्तालिन के देहांत के बाद सोवियत संघ में ख्रुश्चोवी संशोधनवाद द्वारा पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो जाने पर सोवियत लुटेरे भी हमारे देश में आ धमकने लगे। साम्राज्यवाद के ताबेदार भारतीय शासक वर्ग ने भी अपने खुद के हितों को पूरा करते हुए और साम्राज्यवादियों के बीच के अंतर्विरोधों का इस्तेमाल करते हुए साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा हमारे देश की लूट–खसोट के लिए दरवाजा खुला रख दिया। (वही, पृ.7.8)

एक अन्यत्र जगह पर इनका दूसरा दस्तावेज कहता है:

''... साम्राज्यवाद के ताबेदार इन भारतीय शासक वर्गों ने साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों का इस्तेमाल करके अपने हितों की पूर्ति करते हुए साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा हमारे देश की लूट को निर्बन्ध किया। ''परिणामस्वरूप जैसे ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी पर्दे के पीछे चले गये, वैसे अगले एक दशक से भी ज्यादा समय तक अमरीकी साम्राज्यवाद भारत पर अपना अधिक वर्चस्व कायम रख सका। इसके बाद 1960 के दशक के अंत से लेकर अगले दो दशकों से भी ज्यादा समय तक सोवियत साम्राज्यवाद ने अपना अधिक वर्चस्व कायम रखा। अब फिर से अमरीकी साम्राज्यवाद का दबदबा कायम हो चुका है। यह तथ्य है कि इन बदलते झुकावों के पीछे विश्व परिस्थिति में होने वाले परिवर्तनों और फेरबदलों की भूमिका बहुत निर्धारक रही है। (राजनीतिक प्रस्ताव, घरेलू परिस्थिति, पृ. 54)

और आगे

'' लेकिन अमरीकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व का यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों की कोई घुसपैठ नहीं है। वास्तव में यूरोपीय संघ के देशों, विशेषकर जर्मनी और फ्रांस के साथ ही रूस और जापान का प्रभाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इन सभी के प्रभाव का अर्थ यह है कि भारत समूची विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था में अधिकाधिक घनिष्ठता के साथ गुंथता चला जा रहा है। यही कारण है कि आज भारतीय जनता साम्राज्यवादी व्यवस्था के विकास की गति से पैदा होने वाले झटकों और अव्यवस्थाओं का अधिकाधिक शिकार हो रही है। सभी साम्राज्यवादियों की भारत में और अधिक घुसपैठ होने के चलते न केवल निचले स्तर से दबाव बेहद बढ़ गया है, जिसके फलस्वरूप देश में वर्ग अंतर्विरोध तीखे हो चले हैं, बल्कि शासक वर्गों के भीतर दरारें बढ़ने के साथ ही आपसी अंतर्विरोध भी तीखे हुए हैं, हालांकि अभी इनकी ठोस शक्ल उभर नहीं पायी है।'' (वही, पृ. 64.65)

इतने लम्बे उद्वरण देने की जरूरत इसलिए पड़ी है कि भा.क.पा. (माओवादी) के सूत्रीकरण और पेश किये गये तथ्यों के अंतर्विरोधों व विसंगतियों को दर्शाया जा सके। ये मानकर चलते हैं कि भारतीय पूंजीपति वर्ग दो हिस्सों में बंटा हुआ है। एक हिस्सा दलाल बुर्जुआ वर्ग का है जो साम्राज्यवाद का वफादार कुत्ता है, उन्हीं के द्वारा पाला–पोसा गया है और अपने अस्तित्व के लिए उन्हीं पर आश्रित है। दूसरा हिस्सा राष्ट्रीय बुर्जुआ का है जो इनकी नव–जनवादी क्रांति का ढुलमुल दोस्त है। माओ की दलाल और राष्ट्रीय बुर्जुआ की परिभाषा का भारतीय परिस्थितियों में अंधानुकरण करके भा. क.पा. (माओवादी) को विपरीत तथ्यों से टकराना पड़ता है। जब वे कुछ तथ्यों को अपने सूत्रीकरणों में समावेशित करने की कोशिश करते हैं तो अजीबोगरीब हास्यास्पद नतीजों तक पहुंचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इनके हास्यास्पद नतीजे ये हैं कि, भारतीय बड़ा पूंजीपति वर्ग पहले ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का दलाल था, बाद में अमरीकी साम्राज्यवादियों का दलाल हो गया, फिर वह सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादियों का दलाल हो गया, अब वह फिर से अमरीकी साम्राज्यवादियों का दलाल हो गया है। फिर वह निष्कर्ष निकालते हैं कि अमरीकी साम्राज्यवादियों के वर्चस्व का मतलब यह नहीं है कि अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों का आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव नहीं है। उनकी यह हास्यास्पद व अजीबोगरीब स्थिति दलाल पूंजीपतियों द्वारा अपने मालिक बदलने के निष्कर्ष में व्यक्त होती है, साम्राज्यवादियों के बीच के अंतर्विरोधों को इस्तेमाल करने में व्यक्त होती है और भारतीय शासक वर्गों के विस्तारवादी मंसूबों में व्यक्त होती है। दरअसल, दलाल–राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के विभाजन के लिए ये जो कुछ भी आधे–अधूरे तथ्य प्रस्तुतः करते हैं वे ही इनके सूत्रीकरणों को खण्डन करते हैं। माओ ने चीन के जिस दलाल पूंजीपति वर्ग का विश्लेषण किया था व अपने अस्तित्व के लिए साम्राज्यवाद पर निर्भर था, वह उसके विभिन्न हिस्से विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के दलाल थे। पूरा दलाल पूंजीपति वर्ग सभी साम्राज्यवादियों की एक साथ साझी दलाली नहीं करता था। इसलिए वह मालिक बदलने के लिए भी आजाद नहीं था। जापानी साम्राज्यवादियों के अलग दलाल थे और ब्रिटिश–अमरीकी साम्राज्यवादियों के अलग दलाल थे इसलिए जब जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्व युद्व शुरू हो गया तो अमरीकी–ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के दलाल पूंजीपति वर्ग के साथ रणकौशलात्मक संयुक्त मोर्चा बना था।

भा.क.पा. (माओवादी) इन सारे तथ्यों से परिचित है तब फिर वह चीन के दलाल पूंजीपति वर्ग की अवधारणा को भारतीय पूंजीपति वर्ग पर जबरदस्ती क्यों आरोपित कर रही है जबकि उन्हीं द्वारा पेश किये तथ्य इसका खण्डन कर रहे हैं?

कौमिन्टर्न ने बहुत पहले भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग को राष्ट्रीय सुधारवादी बुर्जुआ कहा था। इसके अलावा छोटे और मझोले बुर्जुआ का भी जिक्र किया था। लेकिन यह बुर्जुआ वर्ग चीन के बुर्जुआ वर्ग की तरह दलाल और राष्ट्रीय में विभाजित नहीं था। यह आजादी की लड़ाई के दौरान संघर्ष–समझौते और रियायतों का तरीका अपनाता था। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्व संघर्ष करने में एक हद तक जनता की रहनुमायी करता था लेकिन संघर्ष को एक सीमा से बाहर भी नहीं जाने देता था क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से इसके जितने अंतखवरोध थे उससे कहीं अधिक तीखे व बुनियादी अंतखवरोध मजदूर–किसानों से थे। शोषक वर्ग होने के नाते इसकी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से वर्गीय एकता भी थी। इसलिए यह समूची आजादी की लड़ाई के दौरान अपनी बढ़ती शक्ति और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल होते जाने के मुताबिक क्रमशः अपनी मांगों का दायरा बढ़ाता गया। डोमिनियन स्टेटस से लेकर 'भारत छोड़ो आंदोलन' या 'करो या मरो' तक की यात्रा राष्ट्रीय सुधारवादी बुर्जुआ की बढ़ती आर्थिक शक्ति के अनुरूप राजनीतिक आकांक्षा को अभिव्यक्त करती है।

यह सही है कि 1947 में जो आजादी मिली वह काफी हद तक औपचारिक थी। लेकिन राजनीतिक सत्ता में आने के बाद भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सामंती ताकतों के साथ समझौता करके क्रमशः अपनी राजनीतिक आजादी को सुदृढ़ करने में सफलता पायी है। इसने, जब यह आर्थिक तौर पर आज की तुलना में काफी कमजोर था, साम्राज्यवाद, विशेष तौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद के दबाव को झेलते हुए एक हद तक बंद (अटार्किक) अर्थव्यवस्था का निर्माण किया। यह आयात प्रतिस्थापनमूलक औद्योगीकरण की नीतियों को लागू करने में एक हद तक सफल रहा है। इसने साम्राज्यवादी पूंजी के प्रत्यक्ष निवेश में तथा आयात में तरह–तरह के बाड़े खड़े किये थे। इसने विदेश नीति के मामले में अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध में कई फैसले लिए थे। इसने चीनी लोक गणराज्य को राजनयिक मान्यता देने, बांदुंग सम्मेलन में शामिल होने, गुट–निरपेक्ष आंदोलन में नेतृत्वकारी भूमिका के बतौर हिस्सेदारी करने, अमरीका द्वारा बनाये गये तरह–तरह के फौजी गुटों में हिस्सेदारी करने से इंकार करने जैसे कई कदम उठाये जिनकी भा.क.पा. (माओवादी) के दस्तावेज चर्चा तक नहीं करते।

इसके बजाय, ये दस्तावेज विदेश नीति के संदर्भ में यह कहते हैं,

> ''11. साम्राज्यवाद, खासकर अमरीकी साम्राज्यवाद के निर्देश तथा योजना के मुताबिक दलाल बड़े पूंजीपतियों और सामंतों का यह भारतीय शासक वर्ग एक ऐसी प्रतिक्रियावादी विदेश नीति का अनुसरण करता जा रहा है जो साम्राज्यवादियों की विश्व–रणनीति की जरूरतों को पूरा करती है।'' (कार्यक्रम, पृ–8)

अगर इस पैरा का मतलब यह है कि वह 1947 से ही ऐसी विदेश नीति अपनाता रहा है जो साम्राज्यवादियों की विश्व रणनीति की जरूरतों को पूरा करती थी, तो ऊपर बताये गये विदेश नीति सम्बंधी तथ्यों को किस प्रकार साम्राज्यवादियों की विश्व रणनीति की जरूरतों को पूरा करने से जोड़ा जा सकता है। अमरीका द्वारा स्थापित विभिन्न फौजी गुटों में से किसी में न शामिल होना कैसे साम्राज्यवादी विश्व–रणनीति की जरूरत को पूरा करता है? स्वाभाविक तौर पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि यह अमरीकी साम्राज्यवादियों की विश्व–रणनीति की जरूरत के विरुद्व है। इसलिए ऐसे असुविधाजनक तथ्यों को गायब कर दिया जाय। यही ये दस्तावेज एक हद तक करते हैं।

अगर इस पैरा का मतलब यह है कि भारतीय शासक वर्ग वर्तमान में ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करता जा रहा है जो साम्राज्यवादियों की विश्व–रणनीति की जरूरतों को पूरा करती है, तो दूसरा सवाल खड़ा होता है। वह यह कि जब भारतीय शासक वर्ग कमजोर था, उस समय वह साम्राज्यवाद–विरोधी, विशेष तौर पर ज्यादा अमरीकी साम्राज्यवाद–विरोधी तेवर अपनाये हुए था, लेकिन जब वह आर्थिक तौर पर पहले की तुलना में ज्यादा मजबूत हो गया है, तब वह क्यों साम्राज्यवादियों की विश्व रणनीति की जरूरतों को पूरा करने वाली विदेश नीति अपनायेगा?

इस सवाल का जवाब यही हो सकता है कि भारतीय पूजीपति वर्ग का चरित्र दलाल नहीं है, बल्कि यह एक स्वतंत्र पूंजीपति वर्ग है जो अपनी घरेलू और विदेश नीतियां अपने लाभ को अधिकाधिक बढ़ाने तथा अपने प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के दृष्टिकोण से अपनाता है। विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ उसके रिश्ते मूलतया इसी दृष्टिकोण से तय होते हैं। इसीलिए एक समय में आयात प्रतिस्थापन मूलक औद्योगीकरण करने वाला भारतीय पूंजीपति वर्ग वर्तमान में विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से एकाकार हो रहा है। यह एकीकरण यहां के पूंजीपति वर्ग की अपनी जरूरत है। इसमें साम्राज्यवादी दबाव भी हैं, लेकिन इसकी मूलगति अपनी है।

भा.क.पा. (माओवादी) को यह विश्लेषण स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि यह उसके सूत्रीकरण से मेल नहीं खाता। इसलिए वह भारतीय शासकों के विस्तारवाद को भी साम्राज्यवादियों की शह और उकसावे की कार्यवाही मानता है और भारतीय विस्तारवाद को साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व बढ़ाने का एक माध्यम मानता है। अगर यही होता तो म्यांमार के सैनिक शासकों के साथ अपने रिश्ते बढ़ाने की उसकी वर्तमान में कोशिश नहीं होती क्योंकि अमरीकी साम्राज्यवादी तो उसे अलग–थलग किये हुए हैं।

जिस प्रकार भा.क.पा. (माओवादी) ने दलाल पूंजीपति वर्ग की अवधारणा को यांत्रिक तरीके से भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र निर्धारण पर लागू किया है उससे इसकी विसंगति स्पष्ट तौर पर उजागर होती है उसी प्रकार भारत में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की मौजूदगी का विश्लेषण इनकी और ज्यादा विसंगतियों को ही दिखाता है।

इनके अनुसार, भारत के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग में आमतौर पर मझोले और छोटे पूंजीपति आते हैं। इनके हिसाब से यह वर्ग साम्राज्यवाद, दलाल नौकरशाह पूंजीवाद के उत्पीड़न का शिकार है और सामंतवाद की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। इसकी न तो राजसत्ता में कोई हिस्सेदारी है और न ही राजकीय कोष पर इसका नियंत्रण। अगर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की इनकी परिभाषा के अनुसार भारतीय परिदृश्य को समझने की कोशिश की जाय तो कौन सा मझोला या छोटा पूंजीपति वर्ग है जो भारतीय बड़े पूंजीपति वर्ग के विरुद्व संघर्ष में सर्वहारा का साथ देगा? उसके किस स्वार्थ को भारतीय सर्वहारा वर्ग नव–जनवादी क्रांति से पूरा करेगा? लाइसेंस, कच्चे माल और वित्त के लिए राज्य पर निर्भर इस वर्ग की नियति यही है कि इनका एक हिस्सा बड़ी पूंजी द्वारा निगल लिया जाय या इनके उद्यम उनके सहायक उद्यम बनकर रह जायें। यही पूंजीवाद की गति है। लेकिन इससे ये साम्राज्यवाद और बड़े पूंजीपति वर्ग के खात्मे के संघर्ष में किसी भी तरह के कोई रणनीतिक सहयोगी नहीं बनते।

चूंकि इनकी कल्पना का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग वास्तविकता में मौजूद ही नहीं है इसलिए ये यह बताने की कोशिश ही नहीं करते कि इस वर्ग को सामंती बेड़ियों ने किस तरह से जकड़ कर रखा हुआ है? माओ का सूत्र तो दिया लेकिन भारतीय पूंजीपतियों के किसी भी हिस्से का कोई विश्लेषण नहीं किया। वे यह बताने की जरूरत भी नहीं महसूस करते कि इन छोटे मझोले पूंजीपतियों (राष्ट्रीय पूंजीपतियों) की कोई राजनीतिक पार्टी क्यों नहीं अस्तित्व में आयी? क्या ये किसानों और ग्रामीण पूंजीपतियों से भी आर्थिक तौर पर कमजोर हैं? राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी बनना दूर की बात है, इनका कोई अपना स्वतंत्र जन संगठन भी नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। यह वर्ग राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग–भारतीय परिदृश्य में मौजूद ही नहीं है। इसलिए इनके साथ रणनीतिक संयुक्त मोर्चे की बात या तो हवा में तीर चलाना है या शुद्व तौर पर पूंजीपति वर्ग का दुमछल्ला बनना है। यह दलाल–राष्ट्रीय का विभाजन और उसके आधार पर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के साथ रणनीतिक संश्रय की रणनीति का निर्धारण भारतीय कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में एक सुधारवादी भटकाव को व्यक्त करता है।

III भारतीय कृषि के अर्द्ध–सामंती चरित्र के बारे में

भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन का अधिकांश हिस्सा भारतीय कृषि में अर्द्ध–सामंतवाद की प्रभावी मौजूदगी की चर्चा करता है। भा.क.पा. (माओवादी) अपने दस्तावेजों में सामंतवाद और व्यापक जनसमुदाय के बीच अंतर्विरोध को प्रधान अंतर्विरोध घोषित करती है। भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास के बारे में चर्चा करते हुए दस्तावेज कहते हैं :

'' 14. साम्राज्यवादियों की जरूरत और योजना के ही मुताबिक दलाल बड़े पूंजीपति तथा बड़े जमींदार भारतीय शासक वर्गों नें किसान विद्रोहों से बार–बार प्रदर्शित हुए जनता के आक्रोश से भयभीत होकर और खासकर तेलंगाना के महान, ऐतिहासिक किसान विद्रोह से घबराकर 1947 के बाद सामंतवाद के उन्मूलन के नाम पर भूमि सम्बन्धों में कुछ फेरबदल किया। उन्होंने भारी मुआवजा देकर रियासतों को और जमीन पर लगान की बिचौलिया व्यवस्था को खत्म कर दिया। किन्तु भूमि पर बड़े जमींदारों का एकाधिकार वैसा ही बना रहा और भूमिहीन व गरीब किसानों की विशाल बहुसंख्या जमीन से वंचित रह गयी है।'' (पार्टी कार्यक्रम, पृ–10)

एक अन्य दस्तावेज में कृषि में आये परिवर्तनों की चर्चा करते हुए कहा गया है:

'' 11. आज भारत में तथाकथित आजादी के 59 साल बाद भी थोड़े–बहुत बदलावों के बावजूद बड़े जमींदारों का ही एकाधिकार कायम है। सर्वाधिक शोषित–उत्पीड़ित वर्ग अभी भी किसानों की विशाल बहुसंख्या ही है। किसानों की यह विशाल बहुसंख्या अत्यन्त दयनीय और घनघोर गरीबी के हालात में जीने को विवश है। तमाम भूमि सुधारों के दिखावे के बावजूद 30% से ज्यादा जमीन उन जमींदारों के पास संकेन्द्रित है जो आबादी के महज 5: ही हैं। देहातों में अभी अर्द्ध–सामंती शोषण के चरम रूप बरकरार हैं। अर्द्ध–सामंती शोषण के इन प्रमुख रूपों में हैं– आधी फसल तक को हड़प ले जाने वाली बटाईदारी की प्रथा, बंधुआ मजदूरी, सूदखोर तथा महाजनी पूंजी और आर्थिक से इतर उत्पीड़न के अन्य प्रकार, जैसे ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था जो उत्पीड़ित लोगों खासकर दलितों से ज्यादा से ज्यादा अधिशेष का दोहन करने में भारी महत्व रखती है।

''देहातों में जमींदारों, सूदखोरों, महाजनों और धार्मिक संस्थानों का वर्चस्व है। ये वर्ग दुश्मन जातिवाद, साम्प्रदायिकता और अंधविश्वासों को बनाये रखते हैं और इन्हें बढ़ावा देते हैं। ये अपनी निजी सेनाएं तथा गुण्डा बल भी पालते हैं और प्रायः नरसंहार, बलात्कार आदि को अंजाम देते हुए मध्ययुगीन तरीके से ग्रामीण जनता और दलितों, आदिवासियों, महिलाओं तथा अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न करते हैं। उत्पीड़कों का यह वर्ग सामाजिक और राजनीतिक सत्ता पर कब्जा जमाये हुए है और साम्राज्यवाद के स्तंभ का काम करने तथा पतनशील सामंती संस्कृति को निश्चित रूप से कायम रखने के साथ ही व्यापक देहाती क्षेत्र में सड़ी–गली साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रसार के लिए रास्ता तैयार करता है। आज भी भारत के ग्रामीण समाज में यही पहलू कुल मिलाकर हावी है।

'' 12. युगों पुराने अर्द्ध–सामंती शोषण–उत्पीड़न के अलावा किसानों की स्थितियां, खासकर देहाती मजदूरों समेत गरीब एवं भूमिहीन किसानों, आदिवासियों तथा दलितों के हालात साम्राज्यवाद द्वारा प्रायोजित नीतियों की वजह से और भी ज्यादा खराब होते जा रहे हैं। कृषि क्षेत्र अब बीज, कीटनाशक, खाद और मशीनों के लिए मुख्यतः साम्राज्यवादियों और दलाल नौकरशाह पूंजीपतियों के रहमो–करम पर ही है। कृषि क्षेत्र के लिए सरकारी धन का आवंटन 2.6: से घटाते–घटाते 1997-98 में ही 1.5% तक पहुंचा दिया गया था। कृषि में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश 1981-82 में 14.1% से कम होकर 2000-2001 में 4.9% रह गया। सकल पूंजी निर्माण में कृषि का हिस्सा इस अवधि में 11.2% से तेजी से घटकर 7.1% रह गया। बैंक के कारोबार में किये गये सुधारों के तहत प्राथमिकता के क्षेत्र में दिये जाने वाले कर्ज में कटौती के कारण किसान, खासकर गरीब किसान और मध्यम किसान भी आज पहले से कहीं ज्यादा निजी सूदखोरों के रहमोकरम पर हैं। आम किसानों को अपना 65% तक कर्ज लुटेरे व्यापारियों समेत इन्हीं सूदखोरों से लेना पड़ रहा है, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों से वे अपने कर्ज की केवल 13.5% जरूरत ही पूरी कर पा रहे हैं। एक तरफ, पानी, बिजली, डीजल, खाद, कीटनाशक, मशीनों और कृषि की हर आगत की कीमत में वृद्वि और दूसरी तरफ कृषि उपज के नाम मात्र के मूल्य या गैर लाभकारी मूल्य के चलते समूचे गरीब किसान वर्ग और मध्यम किसानों के एक बड़े हिस्से की जमीन प्रायः बड़े जमींदारों के ही हाथ आ रही है।

'' तथाकथित हरित क्रांति की कुछ पट्टियों में कुछ हद तक पूंजीवादी सम्बन्ध और सामने आये हैं, लेकिन वे बहुत ही विकृत (distorted) और अनगढ़ (disarticulated) हैं। ये सम्बन्ध सुधारों के नाम पर सामने लाये गये हैं। मगर इनका वास्तविक मकसद साम्राज्यवादी माल के लिए बाजार पैदा करना व उसका विस्तार करना और देश के सामने उस वक्त आये खाद्यान्न संकट को हल करने के अलावा जनता को क्रांतिकारी संघर्ष से भटकाना भी रहा। फलस्वरूप, इन सीमित इलाकों (पॉकेटों) में कुछ नयी वर्ग शक्तियां उभर आयी हैं, फिर भी भूमि का सवाल अभी मूलतः हल नहीं हो सका है। पंजाब जैसा प्रदेश इसका एक उदाहरण है जहां काफी हद तक विकृत पूंजीवादी सम्बन्धों का प्रसार हुआ है, लेकिन इनका चरित्र मूलतः अर्द्ध–सामंती ही बना हुआ है। ''शासक वर्ग अभी से तरह–तरह के बहाने बनाकर जमीन के मालिकाने पर से सीलिंग हटाने के लिए नाममात्र के भू–हदबंदी कानूनों को भी ढीला करते हुए और उनसे बचने के नये रास्ते निकालते हुए भूमि के और ज्यादा संकेन्द्रण को प्रोत्साहन देने लगा है। हाल में बड़ी–बड़ी व्यावसायिक कम्पनियां किसानों को लाखों की तादाद में विस्थापित करते हुए उनकी खेती की जमीन का बड़े पैमाने पर कब्जा करती पायी जा रही हैं। कृषि व्यवसाय संघ, फसल की विविधता की लम्बी–चौड़ी बातें और गरीब किसानों की मदद करने के नाम पर ठेके पर खेती की शुरुआत गरीब किसानों को और मध्यम किसानों के एक 'तबके' को बर्बादी की ओर ले जाने के सिवा और कुछ भी नहीं है।'' (राजनीतिक प्रस्ताव, घरेलू परिस्थिति, पृष्ठ 67–69)

और आगे,

'' देश के कुछ हिस्सों में गरीब किसानों और मध्यम किसानों के एक तबके के बीच 'आत्महत्या' की बढ़ती घटनाएं चौतरफा गहन होते कृषि संकट की तीव्रता को ही दिखा रही हैं। आज देश के एक हिस्से में सूखे और दूसरे में बाढ़ की खबरों के साथ ही साथ खाद्यान्न संकट एक बार फिर भारत की समस्याओं में स्थान ग्रहण कर रहा है, जबकि गोदामों में भरा पड़ा अनाज अधिकाधिक सड़ता जा रहा है। ये सभी अंतर्विरोधी पहलू अप्रत्यक्ष शासन और नियंत्रण के नव–औपनिवेशिक रूप के तहत अर्द्ध–औपनिवेशिक तथा अर्द्ध–सामंती ढांचे के सुस्पष्ट लक्षण है। ''देश के विभिन्न भागों में, जहां कुछ हद तक पूंजीवादी सम्बन्ध विकसित हो चुके हैं, धनी और मध्यम किसानों के एक तबके सहित किसानों के विशाल हिस्से विभिन्न मुद्दों पर किसान संघर्ष छेड़ते रहे हैं। संघर्ष के इन मुद्दों में से ध्यान मुख्यतः अपनी उपज के लिए लाभदायक दाम हासिल करने पर केन्द्रित है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक जैसी साम्राज्यवादी संस्थाओं के निर्देशों पर सब्सिडी कम किये जाने या खत्म किये जाने के चलते खाद की कीमतों में वृद्वि, आधारभूत ढांचे (Infrastructure) के लिए दी जाने वाली सब्सिडी को समाप्त किये जाने और पानी, बिजली, परिवहन तथा डीजल की दरों में भारी वृद्वि ने भी आम किसानों को उत्तरोत्तर इन संघर्षों के बीच ला खड़ा कर दिया है। इसी दौरान व्यापक किसानों की गोलबंदी, विभिन्न स्थानों पर संघर्षों के दौरान गोली चलाये जाने की घटनायें और इन घटनाओं में अनेक किसानों की हत्या इन संघर्षों के महत्व पर रोशनी डाल रही हैं। साम्राज्यवाद द्वारा प्रायोजित नीतियों के फलस्वरूप कृषि उत्पादन की बढ़ती लागत, व्यापार की प्रतिकूल शर्तें, लाभदायक मूल्य प्रणाली को बंद करने की दिशा में उठाये जा रहे कदम, भारतीय खाद्य निगम को बंद किया जाना और सूदखोरों तथा अन्य कर्जदाताओं का दमघोटू जाल ये सभी कारक मिल कर साम्राज्यवाद समेत शासक वर्ग और उनके राज्यतंत्र के विरुद्व जुझारू किसान संघर्षों के वस्तुगत आधार को उत्तरोत्तर गहरा और व्यापक किये जा रहे हैं।....'' (वही, पृ–70)

इनके दस्तावेजों के अनुसार सत्ता में आने के बाद भारतीय शासक वर्ग ने भारी मुआवजा देकर रियासतों को समाप्त किया और जमीन पर लगान की बिचौलिया व्यवस्था को समाप्त किया। इसके बावजूद जमींदारों का जमीन पर एकाधिकार बना रहा। इसके बाद के कदमों को वे छोड़ देते हैं। भूमि काश्तकारी अधिनियम और भूमि हदबंदी अधिनियम पारित किये गये। इनसे काश्तकारों की व्यापक पैमाने पर

बेदखली के बावजूद कुछ काश्तकारों को जमीन पर हक मिला। जमीन की चकबंदी की गयी जिसके तहत जमीन के छोटे–छोटे टुकड़ों को एक जगह इकट्ठा करने की कार्यवाही भारतीय शासक वर्ग ने की। हदबंदी कानूनों में तमाम छिद्रों के बावजूद कुछ जमीनों का पुनर्वितरण किया गया। यहां पर जमीन का यदि संकेन्द्रण भी रहा है तो कृषि में प्रशियाई रास्ते से पूंजीवाद क्यों नहीं आ सकता? इनका जवाब इनके दस्तावेजों में कहीं नहीं मिलता।

इन दस्तावेजों में अर्द्व–सामंती शोषण के चरम रूपों में आधी फसल तक को हड़प ले जाने वाली बंटाईदारी की प्रथा, बंधुआ मजदूरी, सूदखोर और महाजनी पूंजी और आर्थिक से इतर उत्पीड़न के अन्य प्रकार में ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था द्वारा दलितों का उत्पीड़न व शोषण बताया गया है। लेकिन इनके दस्तावेजों में कहीं यह नहीं बताया गया कि अर्द्व–सामंती उत्पीड़न के ये रूप कितनी मात्रा में बरकरार हैं। क्या भारतीय कृषि मुख्यतया इन्हीं शोषणकारी तरीकों के आधार पर हो रही है? यदि भारतीय कृषि में बंधुआ मजदूरी अभी मुख्य रूप से बनी हुई है तो इसका इन्हें समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए। तब इनको इस सवाल का जवाब भी देना होगा कि जिन इलाकों में ये अर्द्व–सामंती उत्पीड़न सबसे अधिक बताते हैं, उन इलाकों से इतनी भारी मात्रा में श्रमिकों का शहरों की ओर ही नहीं बल्कि अपेक्षाकृत विकसित इलाके की खेती की ओर भी पलायन क्यों हो रहा है? बिहार, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश और राजस्थान से भारी संख्या में श्रमिकों का पलायन इनकी बंधुआ मजदूरी की व्यापक रूप से मौजूदगी का अपने आप खंडन कर देता है।

इनके दस्तावेजों और विशेष तौर पर 9वीं कांग्रेस में बहस किये गये पंजाब में कृषि सम्बन्धों के अध्ययन में यह बात स्थापित की गयी है कि भारतीय कृषि में व्यापक पैमाने पर साधारण माल उत्पादन होता है और साधारण माल उत्पादन पूंजीवाद के पहले के उत्पादन सम्बन्धों, अर्द्व–सामंती उत्पादन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। साधारण माल उत्पादन के बारे में यह इनकी यह गलत समझ है।

साधारण माल उत्पादन पूंजीवाद के बहुत पहले से मौजूद रहा है। यह दासप्रथा के जमाने से शुरू हुआ और पूंजीवादी उत्पादन के दौर तक विद्यमान रहा है। साधारण माल उत्पादन जिस व्यवस्था के भीतर काम करता है उसका चरित्र उसी तरह का होता है। यदि साधारण माल उत्पादन प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अधीन काम करता है तो इसका चरित्र पूर्व–पूंजीवादी होता है और यदि यह पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत काम करता है, जिसमें कृषि भी उद्योग की एक शाखा होती है, जहां एकीकृत राष्ट्रीय बाजार का निर्माण हो चुका होता है, जहां श्रमशक्ति भी माल बन जाती है (प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अंतर्गत कृषि मुख्य हुआ करती थी और उद्योग उसकी शाखा थे। जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में स्थिति ठीक इसके उल्टे हो जाती है)। ऐसी स्थिति में होने वाले साधारण माल उत्पादन की सामंती समाज के समय के साधारण माल उत्पादन से समरूपता दिखाना और फिर इसे अर्द्व–सामंती सम्बन्ध बताना पूर्णतया गलत है। इस गलती का आधार उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को न समझने में है जिसके अंतर्गत पूंजीवाद का विकास होता है और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली संक्रमणकालीन रूपों को अपने में आत्मसात करते हुए और प्राक्–पूंजीवादी रूपों का इस्तेमाल करते हुए अपने को स्थापित करती है।

पंजाब की कृषि का अध्ययन करने के लिए भा.क.पा. (माओवादी) की केन्द्रीय कमेटी (अस्थाई) ने एक अध्ययन टीम का गठन किया था। इस टीम के बीच निष्कर्षों पर मतभेद थे। एक हिस्से का कहना था कि यद्यपि पंजाब में उत्पादन सम्बन्ध प्रभावकारी स्थिति में अर्द्व–सामंती बने हुए हैं, फिर भी बड़ी जमींदारी प्रथा के प्रचलित इलाकों की तुलना में यहां अपने रणकौशल को और ज्यादा व्यापक बनाने की जरूरत है। इसी हिस्से के निष्कर्षों को कांग्रेस ने पारित किया।

अर्द्व–सामंतवाद सिद्व करने वाले इसके प्रमुख तर्कों में एक साधारण माल उत्पादन के प्रचलन का था। हालांकि अपने तर्कों में उन्होंने इस साधारण माल उत्पादन को परंपरागत साधारण माल उत्पादन से भिन्न बताया लेकिन इसे भी उन्होंने पूर्व पूंजीवादी उत्पादन बताया। इनके अनुसार :

> ''पंजाब में भारी पैमाने पर ''साधारण माल उत्पादन'' हो रहा है (जहां पर किसान अपने उत्पाद का भारी हिस्सा बेचता है और इसका इस्तेमाल आगतों और पूंजी के लिए करता है, लेकिन कोई अधिशेष नहीं उत्पादित करताऋ समूचा उत्पादन महज जीवन यापन के लिए होता है)। इसलिए मालों का उत्पादन, किसानों के जीवन यापन का स्रोत होने के अतिरिक्त मुख्यतया साम्राज्यवादियों और दलाल नौकरशाह पूंजीपतियों के बाजारों के लिए होता है जो किसान समुदाय से अधिशेष को चूस लेते हैं। पंजाब में (दूसरे स्थानों की तरह) गरीब और मध्यम किसानों का व्यापक समुदाय ऐसे ही उत्पादन में लगा हुआ है जो कोई अधिशेष नहीं पैदा करते– यह साधारण माल उत्पादन है और कि यह पूंजीवादी प्रकृति का उत्पादन नहीं है। ...'' (People's War, March 2007, Theoritical Organ of CPI (Maoist), Page-57, 2nd para, अनुवाद हमारा)

इस संबंध में लेनिन ने काउत्सकी की भूमि सम्बन्धों पर लिखी पुस्तक का हवाला देते हुए कहा था :

> '' यदि छोटे किसान का कृषि उत्पादन माल उत्पादन के दायरे में नहीं लाया जाता, यदि वह घरेलू अर्थव्यवस्था का महज एक हिस्सा है, तो यह आधुनिक उत्पादन पद्वति की केन्द्रीयकरण करने वाली प्रवृत्तियों के दायरे से भी बाहर रहता है। चाहे उसकी विखंडित अर्थव्यवस्था कितनी भी अतार्किक हो, चाहे इसके प्रयास की कितनी ही बर्बादी होती हो, वह इससे ऐसे बुरी तरह चिपका रहता है, जैसे उसकी पत्नी अपनी फटेहाल घरेलू अर्थव्यवस्था से चिपकी रहती है, जो श्रमशक्ति के भारी खर्च के बावजूद इसी तरह के अनंत दुखदायी परिणाम उत्पन्न करती है। लेकिन यही वह दायरा है जिसमें वह किसी के शासन के अधीन नहीं है और शोषण से स्वतंत्र है। परिस्थिति उस समय बदल जाती है जब प्राकृतिक अर्थव्यवस्था का स्थान माल अर्थव्यवस्था ले लेती है। तब किसान को अपना उत्पाद बेचना होता है, औजार खरीदना होता है और जमीन खरीदनी होती है। जब तक किसान साधारण माल उत्पादक बना रहता है, वह उजरती मजदूर के जीवन स्तर में संतुष्ट रह सकता है, उसे न तो मुनाफे की और न ही किराये की जरूरत होती है, वह पूंजीवादी उद्यमी की तुलना में जमीन की ऊंची कीमत अदा कर सकता है। लेकिन साधारण माल उत्पादन का स्थान पूंजीवादी उत्पादन ले लेता है, यदि उदाहरण के लिए किसान ने आपनी जमीन को बंधक रख दिया है, तो उसे उस पर किराया भी देना होगा, जिसे उसने कर्जदाता को दे रखा है। विकासक्रम की इस मंजिल में किसान को सिर्पफ औपचारिक तौर पर साधारण माल उत्पादक के बतौर माना जा सकता है। वास्तविकता में (de facto) इसे आमतौर पर पूंजीपति–कर्जदाता, व्यापारी, पूंजीवादी उद्यमी व्यापारी से निपटना पड़ता है, जिससे इसे सहायक रोजगार लेना होगा, यानी कि उसको (पूंजीपति को–अनु.) इसे अपनी श्रम शक्ति बेचनी होगी। इस मंजिल पर, हम दोहराते हैं कि काउत्स्की पूंजीवादी समाज में बड़े पैमाने की खेती की तुलना छोटे पैमाने की खेती से करते हैं– किसान के लिए अपने श्रम को न गिनने की सम्भावना का उसके लिए सिर्फ एक मतलब है कि वह खुद मरने तक काम करता रहे। और समय–समय पर अपने उपभोग में कटौती करता रहे। '' (लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड–4, पृष्ठ.124–25,अंग्रेजी संस्करण, प्र.प्र. मास्को, 1972, अनुवाद हमारा, जोर मूल में)

हम समझते है कि ऊपर साधारण माल उत्पादन के सम्बन्ध में भा.क.पा. (माओवादी) की गलत अवस्थिति का यह उद्वरण सटीक ढंग से खंडन करता है। एक तरफ भा.क.पा (माओवादी) कहती है कि किसान समुदाय का ध्रुवीकरण इतना अधिक नहीं हो रहा है कि एक तरफ पूंजीवादी फार्मर हों और दूसरी तरफ खेत मजदूर हों। अगर किसानों का विभेदीकरण इन दोनों ध्रुवों में नहीं हो रहा है तो वे इसे कृषि में पूंजीवादी विकास नहीं मानेंगे। यानी छोटे और मझोले किसानों की भारी मात्रा में मौजूदगी को ये कृषि में अर्द्व–सामंतवाद सिद्व करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। हालांकि यह बात सिद्वान्ततः और व्यवहारतः गलत है। दुनिया के अलग–अलग देशों में पूंजीवादी कृषि में लम्बे समय तक छोटे व मझोले किसान मौजूद रहे हैं। इसका सबसे शास्त्रीय उदाहरण फ्रांस है। फ्रांस में जहां पूंजीवादी जनवादी क्रांति सबसे निर्णायक तरीके से सम्पन्न हुई थी, वहां लम्बे समय तक छोटे पैमाने की किसानी अर्थव्यवस्था मौजूद थी।

अगर इनके तर्क को मान भी लिया जाय तो फिर छोटे किसानों और मध्यम किसानों की तबाही बर्बादी पर इतनी हायतौबा ये दस्तावेज क्यों मचाते हैं। चाहे कृषि व्यवसाय संघ के नाम पर हो, या किसी भी नाम पर यदि भूमि का संकेन्द्रण हो रहा है तो इनकी दृष्टि से अच्छा कदम होना चाहिए– चाहे साम्राज्यवादी कर रहे हों या ''दलाल पूंजीपति''। लेकिन ये जब छोटे किसानों व मध्यम किसानों की तबाही–बर्बादी का और एक हद तक धनी किसानों की परेशानियों का जिक्र करते हैं तो ये सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि एक किसान के दृष्टिकोण से, नरोदनिक दृष्टिकोण से करते हैं।

इन्होंने जितना अधिक रोना छोटे–मझोले किसानों की दुर्दशा पर किया है और धनी किसानों को अपने रणनीतिक मोर्चे पर लाने के लिए जितना अधिक उत्सुक अपने दस्तावेजों में दिखाई पड़ते हैं, उतनी इनकी कृषि क्षेत्र मे लगे अपने वर्ग के बारे में चिंता नहीं दिखाई देती। खेत मजदूरों के अलग से संगठन बनाने और उनके वर्ग संघर्ष को तीव्र करने के बारे में इनके दस्तावेज में यहां–वहां ही चर्चा है।

सूदखोरों और महाजनों की चर्चा इस तरह की गयी है कि मानो वे किसानों को अर्द्ध–सामंती सम्बन्धों में बांधने के उपकरण हों। आज किसानों का कोई भी हिस्सा आम तौर पर सूदखोरों और महाजनों से कर्ज लेकर उनका भू–दास नहीं बनता। बल्कि सूदखोर व महाजन उनको सम्पत्ति विहीन करने में अपनी भूमिका निभाते हैं। किसानों द्वारा की गयी आत्महत्यायें सामंती उत्पीड़न की वजह से नहीं हुई बल्कि पूंजीवादी कर्ज जाल में फंस कर हुई हैं।

इन सब बातों की चर्चा करते–करते वे साम्राज्यवाद और दलाल पूंजीपति वर्ग द्वारा अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए अर्द्ध–सामंती सम्बन्ध कायम रखने और उसे बढ़ाने में इस्तेमाल करने की बात कहते हैं। यदि किसान खाद, कीटनाशक, बिजली, डीजल, उन्नत किस्म के बीज, खेती के औजार इस्तेमाल करता है तो इससे अर्द्ध–सामंती सम्बन्ध कैसे बने रह सकते हैं? क्या भा.क.पा. (माओवादी) यह पहेली कभी हल करने की कोशिश भी करती है।

वास्तविकता यह है कि भारतीय कृषि में पूंजीवाद निर्णायक तौर पर कायम हो गया है। अगर बचे हैं तो सामंती अवशेष ही। इन सामंती अवशेषों को भारतीय समाज का प्रधान अंतर्विरोध बताकर भा.क.पा. (माओवादी) वस्तुतः इक्कीसवीं सदी में खेतीहर पूंजीपति की एक प्रगतिशील तस्वीर पेश कर रही है।

वस्तुतः इनके दस्तावेज पूंजीवाद की जैसी तस्वीर पेश कर रहे हैं, वैसी वह कभी भी नहीं थी। अपने होड़कारी काल में भी वह ग्रामीण इलाकों में भारी पैमाने पर बेशी आबादी को जन्म देता था। वह किसानों को जमीन से बेदखल करने में राज्य की मदद लेता था। उसने इंग्लैण्ड में यही किया। कृषि से निकली बेशी आबादी कई रूपों में बढ़ी। गुप्त बेशी आबादी, ठहरी हुई बेशी आबादी और गतिशील बेशी आबादी के रूप में यह बेरोजगारों की फौज बढ़ी। इस बेरोजगार फौज में अवारे, उचक्कों से लेकर भीख मांगने वालों की भारी जमात पैदा हुई। इनके विरुद्व 'गरीबों के कानून' (poor laws) बने। ये गांवों से उजाड़े गये थे। वहां बाड़ाबंदी के जरिये जबरदस्ती शहरों की ओर खदेड़े गये। शहरों में भी बेरोजगारी की हालत में रहने को मजबूर यह बेशी आबादी उपरोक्त रूपों में व्यक्त होती थी।

अतः भा.क.पा. (माओवादी) जब पश्चिमी पूंजीवादी देशों में कृषि सम्बन्ध में और आमतौर पर पूंजीवाद के संबंध में जो तस्वीर पेश करती है, वह वास्तविकता के बिल्कुल विपरीत होती है। क्रांतिकारी पूंजीवाद भी गरीब किसानों व खेत मजदूरों को तबाह–बर्बाद करके ही आगे बढ़ा है। इनका यह भी कहना गलत है कि चूंकि ग्रामीण क्षेत्र से जाने वाली आबादी अधिकांशतः छोटे–मोटे कामों और स्वरोजगार में जाती है और कि बड़े उद्योगों में उसे रोजगार नहीं मिलता, इसलिए यहां पर पूंजीवाद नहीं है या यहां की कृषि पूंजीवादी नहीं है। यह मार्क्सवादी विश्लेषण पद्वति पर आधारित नहीं है।

ग्रामीण इलाके में आने वाले संकटों विशेष तौर पर भारतीय कृषि में मौजूद संकट के प्रति भा.क.पा. (माओवादी) का दृष्टिकोण सही नहीं है। आज भारतीय कृषि सामंती ठहराव का शिकार नहीं है। अगर ₹50 के दशक की तुलना में चार गुना खाद्यान्न का उत्पादन हो रहा है और भारी पैमाने पर विविधता लिए नगदी फसलें उगायी जा रही हैं, तो यह किसी भी तरह से अर्द्ध–सामंती खेती नहीं है। इसके बावजूद यदि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा घटता जा रहा है और उद्योग तथा सेवा क्षेत्र का हिस्सा बढ़ता जा रहा है तो यह भारतीय अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी होने का सूचक है। भारतीय अर्थव्यवस्था के एक हिस्से के बतौर भारतीय कृषि भी मूलतः पूंजीवादी हो चुकी है।

आज ग्रामीण समाजों में सामंतों का कोई वर्ग मौजूद नहीं है। यदि ऐसा कोई इक्का–दुक्का है भी तो वह ग्रामीण समाज में अप्रासंगिक हो गया है। मौजूदा ग्रामीण समाज में कुलक, पूंजीवादी फार्मर और पूंजीवादी भू–स्वामी ही शीर्ष पर हैं और ग्रामीण इलाके की अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज पर इन्हीं का वर्चस्व कायम है। ग्रामीण समाज के खेत मजदूरों, अन्य मजदूरों तथा मेहनतकशों के ये ही शत्रु हैं। ग्रामीण इलाके का वर्ग संघर्ष इन्हीं वर्ग शत्रुओं के विरुद्व केन्द्रित होगा।

लेकिन भा.क.पा. (माओवादी) इन शत्रुओं से रणनीतिक संश्रय कायम करने की लाइन प्रस्तुत करती है। इनका नव–जनवादी क्रांति का कार्यक्रम मजदूरों –मेहनतकशों के दुश्मनों को दोस्तों की श्रेणी में डाल देता है। इन शत्रुओं को मित्रों की श्रेणी में डालकर भा.क.पा. (माओवादी) वस्तुगत तौर पर सुधारवाद कर रही है।

इन्होंने किसान आबादी की भारी संख्या दिखाने के लिए खेत मजदूरों को व भूमिहीन किसानों को एक ही प्रवर्ग में डाल दिया है। इन्होंने भूमिहीन और गरीब किसान शीर्षक में बताया है :

भूमिहीन और गरीब किसान :

''आमतौर पर खेतीहर मजदूरों समेत भूमिहीन किसानों के पास अपनी भूमि और अपने कृषि औजार नहीं होते। उन्हें या तो पूरी तरह या मुख्यतः अपनी श्रमशक्ति बेचकर अपनी गुजर बसर करनी पड़ती है। ''

(भारतीय क्रांति की रणनीति और कार्यनीति, पृ–30)

तब फिर मजदूरों और भूमिहीन किसानों को गरीब किसान के साथ क्यों नत्थी किया गया है? सिवाय इसके कि सर्वहारा वर्ग और अर्द्ध–सर्वहारा को एक साथ गड्ड–मड्ड किया जा सके। खेतीहर सर्वहारा और भूमिहीन किसान आदि उत्पादन के साधनों से वंचित हैं और पूरी तरह या मुख्यतः श्रम शक्ति बेचकर गुजर बसर करते हैं तो उन्हें सर्वहारा वर्ग की श्रेणी में क्यों नहीं डाला गया? इसका सिवाय इसके अन्य कोई कारण नहीं है कि किसान आबादी की भारी संख्या दिखाना है।

इसके पहले सर्वहारा वर्ग की श्रेणी में उस ग्रामीण सर्वहारा को डाला गया है जो खेत मजदूर के बतौर मुख्यतः चाय, कॉफी, कोको, नारियल, आम, रबर, सुपारी, चीनी, फल और सब्जी उत्पादन के बड़े–बड़े फार्मों में काम करते हैं। इनके पास उत्पादन के अपने कोई साधन नहीं होते और ये बड़े पूंजीवाद परस्त जमींदारों, दलाल पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों की मिल्कियत वाले बागानों व फार्मों में अपनी श्रम शक्ति बेचकर अपना गुजर बसर करते हैं। अगर इसी ग्रामीण सर्वहारा की श्रेणी में खेत मजदूरों और भूमिहीन किसानों को डाल दिया जाता तो समूचे ग्रामीण इलाके में सर्वहारा वर्ग की भारी संख्या हो जाती। इससे बचने के लिए और किसान आबादी की भारी तादाद को दिखाने के लिए खेत मजदूरों–भूमिहीन किसानों को गरीब किसानों के साथ नत्थी कर दिया गया है। इस तरह भारत को किसानों का देश, कृषि प्रधान देश सिद्व करने की कसरत की गयी है। भा.क.पा. (माओवादी) की वर्गीकरण की यह पद्वति गलत है। यह किसी भी तरह से, भारतीय क्रांति की धुरी किसान क्रांति है, यह सिद्व करने की कसरत है।

अगर भा.क.पा. (माओवादी) सर्वहारा वर्ग के साथ खेत मजदूरों–भूमिहीन किसानों को एक श्रेणी में डाल देती तो यह एक सही वर्गीकरण की पद्धति होती और इससे ही यह निष्कर्ष निकल जाता कि भारत में क्रांति का नेतृत्व ही सर्वहारा वर्ग नहीं करेगा बल्कि यह भारत की क्रांति की मुख्य लड़ाकू शक्ति भी होगा। इससे चाहे क्रांति की जो भी मंजिल तय होती लेकिन भारत के मजदूरों में मुख्य तौर पर काम केन्द्रित होता– चाहे वह ग्रामीण इलाके के खेत मजदूरों–भूमिहीन किसानों में ही क्यों न होता।

लेकिन भा.क.पा. (माओवादी) नव–जनवादी क्रांति की धुरी के बतौर कृषि क्रांति से इस बुरी तरह चिपकी हुई है कि उसे सिद्व करने के लिए वह गलत वर्गीकरणों का भी सहारा लेती है।

इस तरह हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद के बारे में, भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में, भारतीय कृषि में उत्पादन सम्बन्धों के बारे में, समग्रता में भारतीय क्रांति के कार्यक्रम के बारे में भा.क.पा. (माओवादी) गलत निष्कर्षों तक पहुंचती है। वह विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्वति का अनुसरण नहीं करती, बल्कि अपने सूत्रीकरणों के हिसाब से तथ्यों का समावेश करती है।

IV दीर्घकालीन लोक–युद्व की रणनीति के बारे में

भा.क.पा. (माओवादी) द्वारा दस्तावेज ''भारतीय क्रांति की रणनीति और कार्यनीति'' को सबसे ज्यादा विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसमें और अन्य दस्तावेजों में भी शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति का वर्णन किया गया है।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का आकलन करने वाले दस्तावेज में शानदार क्रांतिकारी परिस्थिति की चर्चा की गयी है। इसमें साम्राज्यवादियों की आपसी प्रतिस्पर्धा के बढ़ने और अमरीकी साम्राज्यवाद के अफगानिस्तान और इराक पर कब्जा करने के विरोध में उठने वाले जन–विरोध तथा छिट–पुट जगहों पर हो रहे मजदूर व अन्य मेहनतकश वर्गों के आंदोलन के साथ–साथ फिलिस्तीन का संघर्ष, लेबनान में हिजबुल्ला छापामारों द्वारा इजराइली हमलावरों का विरोध तथा कुछ अन्य ऐसे संघर्षों का जिक्र किया गया है। कुछ देशों में माओवादी पार्टियों द्वारा चलाये जा रहे सशस्त्र संघर्षों का भी जिक्र है। इन संघर्षों और अमरीकी साम्राज्यवादी हमलावरों द्वारा अपनायी जा रही नीतियों के विरुद्व उठने वाले उभारों के आधार पर विश्वव्यापी पैमाने पर क्रांति की शानदार परिस्थिति का आकलन वस्तुतः मनोगतवादी है और यह दुनिया भर के मजदूर आंदोलन, कम्युनिस्ट आंदोलन तथा अन्य वर्गों के संघर्षों के वस्तुगत आकलन पर आधारित नहीं है। ऐसा मनोगत आकलन मुहिमजोई की तरफ और बाद में निराशा की तरफ ले जाता है। हमने इस विषय पर पीछे के अंकों में चर्चा की है।

भा.क.पा. (माओवादी) ''भारतीय क्रांति की रणनीति और कार्यनीति'' नामक दस्तावेज में विस्तार से यह बताती है कि भारत में नव–जनवादी क्रांति चीन की तरह दीर्घकालीन लोकयुद्व के रास्ते का अनुसरण करेगी। इसके अनुसार भारतीय सशस्त्र क्रांति सशस्त्र प्रतिक्रांति का मुकाबला कर रही है। इसके लिए यह पिछड़े इलाकों में सशस्त्र संघर्ष शुरू करके, कृषि क्रांति को केन्द्र में रखकर गांव से शहरों को घेरने और अंत में शहरों पर कब्जा करने की रणनीति को लागू कर रही है। इसके अनुसार, भारतीय क्रांति में शुरू से ही संघर्ष का मुख्य रूप सशस्त्र संघर्ष का और संगठन का मुख्य रूप सेना का है। इसके अनुसार, दीर्घकालीन लोकयुद्व के रास्ते में यह अंतर्निहित है कि यहां क्रांति के लिए, सशस्त्र संघर्ष के लिए हमेशा परिस्थिति विद्यमान है। इसलिए यह क्रांति की तैयारी के काल के तौर पर, शक्ति संचय करने के लिए शुरुआती तौर पर जनसंघर्ष और जनसंगठनों को संघर्ष व संगठन के मुख्य रूप मानने वालों को संशोधनवादी कहती है। यह उन लोगों को भी संशोधनवादी भटकावों से ग्रस्त मानती है जो शुरुआती दौर में आत्मरक्षा दस्ते बना कर जन संगठनों और जन आंदोलनों पर जोर देते हैं।

स्वाभाविक है कि दीर्घकालीन युद्व की यह रणनीति व कार्यनीति देश में चल रहे वर्ग संघर्ष से कटी होगी। क्योंकि इसके लिए सारे जनसंगठन और जन आंदोलन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर सशस्त्र संघर्ष में मदद के लिए होंगे। इसके शहरों के काम, मजदूर वर्ग व अन्य वर्गों के बीच काम सशस्त्र संघर्ष में मदद करने के लिए होंगे।

एक ऐसे देश में जो मुख्यतः पूंजीवादी हो चुका है, जिसके पास एक केन्द्रीय पूंजीवादी राज्य है, जहां मजदूरों–मेहनतकशों को लूटने के बारे में पूंजीपति वर्ग और उनकी राजनीतिक पार्टियों में आम सहमति है। जहां शासक वर्गों इस साधारण माल उत्पादन को के भीतर कलह–विग्रह और विरोध एक दायरे के भीतर है, वहां टुकड़ों–टुकड़ों में राज्यसत्ता को कुतरने की कोशिश करना और वैसी रणनीति अख्तियार करना भारतीय क्रांति के लिए नुकसानदेह है।

इसी तरह, जिस देश में मजदूर वर्ग कामगार आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा हो और मजदूर वर्ग की पार्टी होने का कोई दावा करे और इसके आधार पर अपने दोस्त और दुश्मन को तय कर रहा हो, वहां कोई पार्टी अपने वर्ग को छोड़कर पिछड़े देहाती इलाकों में आदिवासियों और किसानों के बीच अपने काम को केन्द्रित करने की रणनीति अख्तियार करे, ऐसी रणनीति सर्वहारा वर्ग की पार्टी के लिए सिद्वान्ततः गलत है और व्यवहार में नुकसानदेह है।

हालांकि इस पार्टी की कांग्रेस में यह दावा किया गया है कि इसने पिछले 37 वर्षों के अनुभवों का संश्लेषण करके भारतीय क्रांति की यह रणनीति और कार्यनीति विकसित की है। लेकिन जैसा हम पहले कह चुके हैं कि इसने गलत कार्यक्रम और गलत अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का आकलन पारित किया है। जड़सूत्रवाद न सिर्फ परिस्थितियों के आकलन और कार्यक्रम पर ही हावी है बल्कि यह इनके अनुभवों के संश्लेषण पर भी हावी है।

पीछे के 37 वर्षों की राजनीतिक–सांगठनिक समीक्षा तो उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर इनके द्वारा किये गये अनुभवों के संश्लेषण को समझा जा सके। लेकिन दीर्घकालीन लोकयुद्व की रणनीति व कार्यनीति में अधिकांश बातें माओ की रचनाओं में मिल जायेंगी, लेकिन आज की भारतीय परिस्थिति का ठोस विश्लेषण नहीं मिलेगा।

फिर भी, सितम्बर 2004 से लेकर इस कांग्रेस तक की राजनीतिक– सांगठनिक रिपोर्ट का सार संक्षेप इस संगठन ने अपने मुखपत्र के मार्च 2007 के अंक में प्रकाशित किया है, इससे इस संगठन की रणनीति–कार्यनीति के संश्लेषणात्मक अनुभवों को समझने में मदद मिल सकती है।

इस रिपोर्ट में पिछले सवा दो वर्षों के दौरान दोनों एकताबद्व हुए संगठनों को निचले स्तर तक एकताबद्व करने तथा कांग्रेस की तैयारियों के अलावा जिस बात पर सर्वाधिक गर्व के साथ चर्चा की गयी है, वह है इनके द्वारा संचालित गुरिल्ला युद्व की। इस संगठन ने गुरिल्ला जोनों को आधार क्षेत्रों में बदलने का, गुरिल्ला सेना को जन–मुक्ति सेना में तथा गुरिल्ला युद्व को छापामार युद्व में बदलने का प्रधान कार्यभार निर्धारित किया था। अब इन्हीं से सुनें :

> '' ऊपर बताये गये प्रधान कार्यभार को हासिल करने के हिस्से के बतौर हमने अनेक बहादुराना कार्यनीतिक प्रत्याक्रमण अभियान चलाये जिन्होंने भारतीय जन समुदाय के अंदर उत्साह का संचार किया और दुश्मन की रीढ़ की हड्डी में भयंकर कंपकपी पैदा कर दी। जहानाबाद जेल ब्रेक के साथ ही, कई जगहों पर छापे, गिरीडीह में छापे, मधुबन और आरा, उदयगिरि में कई छापे, झानदहा कार्यवाही, बिहार में मुंगेर जिले के एस.पी. का सफाया, भाजपा के अध्यक्ष वैन्कैया नायडू के हेलीकॉप्टर को जलाना, बिहार के औरंगाबाद जिले के

कुख्यात प्रतिक्रियावादी और हत्यारे अशोक सिंह (जो बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री एस.एन.सिन्हा का रिश्तेदार था) सहित छः प्रतिक्रियावादी तत्वों का सफाया, उत्तर प्रदेश के चंदौली में पी.ए.सी. के 17 लोगों का सफाया करना, झारखंड के दुर्दान्त प्रतिक्रियावादी और जल संसाधन मंत्री कमलेश कुमार सिंह के घर को नष्ट करना तथा सम्पत्ति पर कब्जा करना, ... जैसी कुछ केन्द्रीकृत कार्यनीतिक प्रत्याक्रमण कार्यवाहियों को और सभी गुरिल्ला जोनों में पिछले दो वर्षों से जन मुक्ति छापामार सेना द्वारा ऐसे ही अनेक बहादुराना कार्यनीतिक प्रत्याक्रमण चलाये गये हैं।'' (People's War, Theoritical Organ of C.P.I. (Maoist½ Page 93-94, March 2007, अनुवाद हमारा)

ऐसी घटनाओं की गौरव–गाथा से आगे का और एक पृष्ठ भरा हुआ है, फिर आंध्र प्रदेश में हुए व्यापक नुकसान की चर्चा है। बाद में कहा गया है :

''इन सभी ने देश के उत्पीड़ित जन समुदाय पर एक सकारात्मक और गहरा प्रभाव पैदा किया है और समग्रता में भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर व्यापक प्रभाव छोड़ा है। इन (कार्यवाहियों) ने उत्पीड़ित जन–समुदाय को उत्साह से भर दिया है जो पहले के किसी भी समय की तुलना में अब और ज्यादा महसूस करने लगे हैं कि हमारी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाला लोक–युद्व ही उनके लिए एकमात्र विकल्प है। इसके चलते संयुक्त–मोर्चे के निर्माण में महत्वपूर्ण विकास हुआ है।'' (वही, पृष्ठ –95, अनुवाद हमारा)

राजनीतिक–सांगठनिक रिपोर्ट के सार–संक्षेप के शुरू में ही बताया गया है कि पिछले सवा दो वर्षों में इस पार्टी के 700 के लगभग नेता, कार्यकर्ता, जनमुक्ति गुरिल्ला सेना के योद्वा, क्रांतिकारी जन कमेटियों के सदस्य, जन मिलीशिया, जन संगठनों के सदस्य और क्रांतिकारी आंदोलन के समर्थक शहीद हुए हैं। आंध्र प्रदेश और उत्तरी तेलंगाना में नेतृत्व को बहुत गंभीर नुकसान हुए हैं।

किसी भी क्रांतिकारी आंदोलन में कुर्बानी देनी पड़ती है। लेकिन गलत राजनीतिक लाइन के कारण दी गयी कुर्बानी और वह भी अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में बार–बार असफल होने और सार–संकलन के बाद गलत प्रमाणित राजनीतिक सामरिक लाइन के कारण दी गयी कुर्बानी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शक्तियों का अपव्यय है। यह सैनिक लाइन के राजनीतिक लाइन पर हावी होने और 'वामपंथी दुस्साहसवाद' की गलत लाइन पर दी गयी कुर्बानी है।

इसको पढ़कर यह स्पष्ट है कि यह पार्टी देश की व्यापक मजदूर– मेहनतकश आबादी से कटी हुई है और सिर्पफ अपने प्रभाव के इलाके को ही समूचा देश समझे हुए है। ये सारी कार्यवाहियां देश के मजदूर वर्ग के वर्ग–संघर्ष से अलग–थलग की गयी कार्यवाहियां हैं। ये देश में अन्य मेहनतकश वर्गों के संघर्षों से कटी हुई कार्यवाहियां है। ये वामपंथी दुस्साहसवादी कार्यवाहियों के अलावा और कुछ नहीं है। अगर माओ के दीर्घकालीन लोक युद्व का यही मतलब इस संगठन ने समझा है तो यह माओ के दीर्घकालीन लोक युद्व का विद्रूपीकरण भी है। वस्तुतः यह का.चारू मजूमदार की आतंकवादी कार्यदिशा का ही विस्तार है। बस फर्क यह आया है कि व्यक्तिगत आतंकवाद के स्थान पर यह ज्यादा संगठित आतंकवाद है।

अगर पिछले 37 वर्षों के अनुभवों के संश्लेषण के बाद समृद्व होने वाली दीर्घकालीन लोक युद्व की यही समझ है तो कहा जा सकता है कि इस संगठन ने अपनी वामपंथी दुस्साहसवादी कार्यवाहियों को आगे बढ़ाने के अनुभवों का संश्लेषण किया है, न कि जन दिशा व जन संघर्षों पर आधारित आंदोलन व संघर्ष विकसित करने का।

V कुछ अन्य सवाल

इस एकता कांग्रेस के दस्तावेज में जगह–जगह पर जाति प्रथा तथा ब्राह्मण– वाद की चर्चा की गयी है। लेकिन इस चर्चा में जहां कहीं भी दलित उत्पीड़न की चर्चा आती है, वहां यह कहीं नहीं कहा गया है कि दलित आबादी में भी ध्रुवीकरण हुआ है। दलित आबादी का एक बहुत छोटा सा हिस्सा शासक वर्ग में शामिल हुआ है और इससे काफी बड़ा हिस्सा निम्न पूंजीपति वर्ग में आया है। दलित आबादी के भीतर हुए इस ध्रुवीकरण को अगर कोई कम्युनिस्ट संगठन नजरअंदाज करता है वह दलितवादी राजनीति करने की ओर अभिशप्त होगा। दलित आबादी के बीच हुए ध्रुवीकरण के चलते दलित मजदूरों–मेहनतकशों की समस्याओं का चरित्र एकदम अलग किस्म का है। मजदूर–मेहनतकशों के संघर्षों के बतौर और उत्पीड़ित दलित के बतौर उनसे एकता बनती है। लेकिन यही बात दलित पूंजीपति वर्ग और निम्न पूंजीपति वर्ग के ऊपरी हिस्से पर नहीं लागू होती। न तो इन वर्गों के हित दलित मजदूरों–मेहनतकशों से मिलते हैं और न ही व्यापक मजदूरों–मेहनतकशों से। दलितों का यह हिस्सा पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थक है और क्रांति–विरोधी है। इस पार्टी की एकता कांग्रेस के दस्तावेजों में जाति प्रथा पर कई जगहों पर बातें की गयीं हैं लेकिन उनके बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया की कहीं चर्चा नहीं की गयी। यह गम्भीर भटकावों की ओर ले जा सकता है।

संसदीय चुनावों के सवाल पर

इस पार्टी की एकता कांग्रेस द्वारा पारित पार्टी कार्यक्रम में कहा गया हैः

'' 27. हमारे देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने संसदीय व्यवस्था को ऊपर से लाद दिया था। इसके अलावा यहां पूंजीवादी–जनवादी क्रांति भी संपन्न नहीं हुई है। अतः यहां कोई पूंजीवादी जनवाद भी नहीं आया। अत्यन्त पिछड़ेपन, गरीबी व अशिक्षा के साथ–साथ यहां सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में असमान विकास की स्थितियां आज भी कायम हैं। इस पृष्ठभूमि में संसदीय व्यवस्था 'संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र' के फरेब की आड़ में रचे गये एक प्रपंच व धोखाधड़ी के सिवा और कुछ नहीं है। संसद, विधानसभा और कार्यकारी परिषद जैसी तमाम संस्थाएं (तथाकथित पंचायती राज समेत) साम्राज्यवाद के चाकर दलाल नौकरशाह पूंजीपति तथा सामंती वर्गों के अधिनायकत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले निरंकुश शासन पर पर्दा डालने का काम करती हैं।

''दरअसल, यहां की किसी संसदीय संस्था के इस्तेमाल से जनता की बुनियादी समस्याओं का कोई व्यावहारिक हल नहीं हो पाता है। साथ ही पिछले 55 वर्षों के अनुभवों ने पक्के तौर पर इसकी पुष्टि कर दी है कि जिन लोगों ने भी कार्यनीति के बतौर चुनाव का इस्तेमाल करने के नाम पर इसमें भाग लेने की कोशिश की, उनमें से अधिकांश आज नहीं तो कल, संसदीय व्यवस्था और संशोधनवाद के दलदल में जा धंसे हैं। आज शासक वर्ग की तमाम संसदीय पार्टियों सहित सभी संसदीय और खुद संसद भी जनता के समक्ष पहले से कहीं ज्यादा बेनकाब हो चुकी है। अतः इसका इस्तेमाल करते हुए इसे बेनकाब करने का कोई भी विचार एक भ्रांति के सिवा और कुछ नहीं है।

''वस्तुतः चुनाव का इस्तेमाल करने के नाम पर इसमें भाग लेने की कार्यनीति सशस्त्र संघर्ष का निर्माण करने और उसे आगे बढ़ाने के काम का परित्याग करने के बराबर है। सच्चाई तो यह है कि जनता की राजनीतिक सत्ता के बिना सारी चीजें एक मरीचिका के सिवा और कुछ नहीं हैं। जनता की राजनीतिक सत्ता सिर्पफ दीर्घकालीन लोक युद्व के रास्ते से ही स्थापित की जा सकती है और उसे आगे बढ़ाया जा सकता है। भारत की ठोस स्थितियों में– संसदीय रास्ता व चुनावों में भागीदारी और दीर्घकालीन लोक युद्व– ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। यहां तक कि जनता की वास्तविक राजनीतिक चेतना का विकास भी इस दीर्घकालीन लोक युद्व से घनिष्ठता पूर्वक जुड़ा हुआ है। इतना ही

नहीं, पार्टी के विकास और इसके बोल्शेविकीकरण के साथ–साथ शक्तियों का संचय भी खुद इससे अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि सशस्त्र संघर्ष हमारे पार्टी कार्यों का 'केन्द्र–बिन्दु' है। माओ ने भी यही बताया है। 'चुनाव बहिष्कार' का सवाल हालांकि कार्यनीति का सवाल है, पर इस समूची पृष्ठभूमि में भारत की ठोस परिस्थिति में यह रणनीतिक महत्व प्राप्त कर लेता है। बड़े पैमाने पर 'चुनाव बहिष्कार एक जनवादी अधिकार है' का नारा बुलंद करना भी सही है।''

(पार्टी कार्यक्रम, पृष्ठ.23.24)

इस समूचे उद्धरण में भा.क.पा. (माओवादी) का दस्तावेज विसंगतियों और गलत तर्कों व भ्रांत धारणाओं से भरा पड़ा है। पहले, यह बात गलत है कि यहां पर पूंजीवादी जनवाद नहीं है। जिन देशों में पूंजीवादी जनवादी क्रांतियां नहीं सम्पन्न हुई थीं, वहां भी कुछ देशों में संसद मौजूद थी और किसी न किसी मात्रा में जनवाद भी मौजूद था। जारशाही के जमाने में घोर प्रतिक्रियावादी संसद मौजूद थी और उस प्रतिक्रियावादी संसद का इस्तेमाल बोल्शेविक पार्टी ने किया था। पूंजीपति वर्ग का सबसे अच्छा शासन करने का तरीका यही होता है कि वह जनता के अंदर यह भ्रम पैदा किये रहे कि वही शासक है। यानी पूंजीवादी जनवाद का रास्ता, जिसका एक रूप पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था का रास्ता है, शासन करने का उसका सबसे अच्छा तरीका होता है। यह भारतीय पूंजीवादी संसद पर भी लागू होता है।

दूसरे, सिर्फ यहां ही नहीं बल्कि कहीं भी पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था के इस्तेमाल से जनता की किसी बुनियादी समस्या का कोई व्यावहारिक समाधान नहीं निकलता। तीसरे, यह कहना गलत है कि जिन लोगों ने कार्यनीति के तौर पर इसका इस्तेमाल किया वे संसदवाद और संशोधनवाद के दलदल में पंफस गये, वास्तविकता तो यह है कि इसका उलटा हुआ है। पहले पार्टी संशोधनवाद में धंस गयी और उसकी अभिव्यक्ति संसद में किसी तरह पहुंचने के रूप में हुई। चौथी बात यह गलत है कि संसदीय व्यवस्था और सभी संसदीय संस्थाएं जनता के बीच बेनकाब हो चुकी हैं या पहले से ज्यादा बेनकाब हो चुकी हैं। वास्तविकता तो यह है कि गरीब मेहनतकश जनता के बीच यह भ्रम बना हुआ है कि हर पांच साल बाद वे ही सरकार बनाते हैं। पांचवी और महत्वपूर्ण बात यह है कि जनवादी संस्थाओं में, जहां मजदूर–मेहनतकश आबादी अपनी 'अतार्किक' सोच व 'पिछड़ेपन' के कारण शिरकत करती है, कम्युनिस्टों को जाना चाहिए और उसकी अतार्किकता को दूर करने में मदद करनी चाहिए। यदि व्यापक मजदूर–मेहनतकश आबादी पूंजीवादी संसद, विधान सभाओं और प्रतिनिधि संस्थाओं में बड़े पैमाने पर शिरकत करती है तो हमें वहां जाना चाहिए।

पूंजीवादी संसद व विधानसभाओं में चुनाव के इस्तेमाल का प्रश्न एक कार्यनीति का प्रश्न इसलिए है क्योंकि यह संघर्ष के एक रूप के बतौर जनता के बीच पूंजीवादी पार्टियों, शासक वर्गों और समूची व्यवस्था का पर्दाफाश करने का बड़े पैमाने पर अवसर देता है। जब वर्ग संघर्ष निम्न स्तर पर हो तो पूंजीवादी व्यवस्था का भंडाफोड़ करने के लिए संसदीय चुनावों में कार्यनीति के बतौर भागीदारी करनी चाहिए। लेकिन जब वर्ग संघर्ष उभार पर हो और व्यापक मजदूर–मेहनतकश जनता संघर्ष के उच्चतर रूपों की ओर आगे बढ़ रही हो, उस समय शासक वर्ग व्यापक आबादी को संघर्ष के उच्च रूपों से विमुख करने के लिए संसदीय चुनावों का इस्तेमाल करता है, ऐसे समय में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की कार्यनीति चुनाव बहिष्कार की होनी चाहिए। लेकिन, दोनों ही स्थितियों में पूंजीवादी व्यवस्था और उनकी पार्टियों का भंडाफोड़ करना उद्देश्य होना चाहिये। किसी भी हालत में, कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को इस या उस पूंजीवादी पार्टी के पक्ष में हिस्सेदारी या बहिष्कार नहीं करना चाहिए।

लेकिन भा.क.पा. (माओवादी) माओ का हवाला देकर गलत बात प्रस्तुत करती है। इनके कार्यक्रम के 27वें बिन्दु में माओ के नाम को इस तरह से प्रस्तुत किया गया है मानो माओ के समय के क्रांति पूर्व चीन में संसद मौजूद रही हो और उन्होंने बहिष्कार का नारा देकर सशस्त्र संघर्ष को वहां के लिए केन्द्र बिन्दु बताया हो। माओ ने चीन के बारे में यह कहा था कि, चूंकि चीन में संसद नहीं है, इसलिए इसके इस्तेमाल का सवाल ही नहीं उठता।

दीर्घकालीन लोकयुद्ध का विद्रूपीकरण करके और भारत की वस्तुगत परिस्थितियों का गलत निर्धारण करके ये कार्यनीति के प्रश्न को रणनीति का प्रश्न बना देने की या रणनीति के महत्व के स्तर पर उसे पहुंचाने की गलती करते हैं।

कुल मिलाकर, भा.क.पा. (माओवादी) की इस एकता कांग्रेस ने गलत कार्यक्रम, गलत अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के आकलन और गलत रणनीति व कार्यनीति तय की है। यह ऐसी कांग्रेस रही है जिसके दस्तावेजों में सैनिक लाइन राजनीतिक लाइन पर हावी है और जिसकी सैनिक–राजनीतिक लाइन वाम दुस्साहसवादी है। यह किसी भी तरह से एकल कम्युनिस्ट पार्टी का गठन नहीं है, और न ही यह उस दिशा में रास्ता खोलता है।

इस कांग्रेस में पारित की गई वाम दुस्साहसवादी लाइन को पराजित करके सही कार्यक्रम के आधार पर ही एकल कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का मार्ग प्रशस्त होगा।

• • •

[हमने 'लाल सलाम' के अंक– 4 में भा.क.पा. (माले– पीपुल्स वार) की 9वीं कांग्रेस के दस्तावेजों की आलोचना प्रस्तुत की थी। भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) की 9वीं कांग्रेस की मूल अवस्थितियां वही थीं जो भा. क.पा. (माओवादी) की 9वीं कांग्रेस की हैं। इसलिए प्रस्तुत आलोचना को पहले की निरंतरता में देखना चाहिए।

हमने अक्टूबर 2001 के अंक– 4 में कहा था कि 1999 से पहले भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) अपने को एक ग्रुप कहती थी, और कि भा.क.पा. (माले–पार्टी यूनिटी) से एकता होने के बाद इसने अपने को पार्टी कहना शुरू किया था। यह बात तथ्यतः गलत थी। पहली बात यह गलत है कि 1999 में भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) और भा.क.पा. (माले–पार्टी यूनिटी) की एकता हुई थी। यह एकता 1998 में हुई थी। दूसरी बात यह गलत है कि इन्होंने 1998 या 1999 से अपने को ग्रुप के बजाय पार्टी कहना शुरू किया था। भा.क.पा. (माले–पीपुल्स वार) 1980 से ही अपने को पार्टी कह रही थी। हम इन तथ्यात्मक गलतियों के लिए खेद व्यक्त करते हैं।] –संपादक